डॉ॰ श्यामबिहारीलाल शर्मा

# पाश्चात्य

# काव्यालोचन

ISBN 81-900308-4-1

# पाश्चात्त्य नव्यालोचन

# पाश्चात्त्य नव्यालोचन


**डॉ० श्यामबिहारीलाल शर्मा**

एम्०ए० (संस्कृत, अँग्रेज़ी, हिंदी), एम्० लिट्०, पी-एच० डी०,

वरिष्ठ प्राध्यापक, हिंदी-विभाग,

राजधानी कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय),

नयी दिल्ली-११००१५



१९८५

**देववाणी-प्रकाशनम्**

**आर-६, वाणी-विहार, नयी दिल्ली-११००५९**

पाश्चात्य नव्यालोचन (साहित्य-समीक्षा)

© डॉ० श्यामबिहारीलाल शर्मा

प्रथम संस्करण

अप्रैल, १९८५

मूल्य ८०.०० रुपये

प्रकाशक : देववाणी-प्रकाशनम्,
आर-६, वाणी-विहार,
नयी दिल्ली-११००५९ (भारत)

ISBN 81-900308-4-1

मुद्रक : प्रवीण प्रिंटिंग सर्विस,
३५-टी एक्सटेंशन, उत्तम नगर,
नयी दिल्ली-११००५९

PĀŚCĀTTYA NAVYĀLOCANA
(Literary Criticism)

by Sharma, Dr. Shyam Behari Lal

Price : Rs. 80.00

सारस्वत श्रद्धा का यह प्रथम सुमन

पूज्य गुरुदेव डॉ० नगेंद्र

के लिए

# भूमिका

प्रस्तुत ग्रंथ डॉ० श्यामबिहारीलाल शर्मा के 'पाश्चात्य नव्यालोचन और समसामयिक हिंदी आलोचना' नामक शोधप्रबंध के पूर्वार्ध का किंचित् परिवर्तित एवं परिष्कृत रूप है। डॉ० शर्मा हिंदी और अंगरेजी साहित्य-शास्त्र के उदीयमान पंडित हैं। उनकी इस पुस्तक में पाश्चात्य नव्यालोचन की गवेषणात्मक विवृतियाँ प्रस्तुत की गई हैं और जॉन क्रो रैंसम, एफ़० आर० लीविस, केनेथ बर्क, एलेन टेट, ईवोर विंटर्स, आर० पी० ब्लैकमर, रॉबर्ट पेन वारेन, क्लिअंथ ब्रुक्स, विलियम एंपसन प्रभृति पाश्चात्य समीक्षकों के आलोचनात्मक प्रयोगों एवं वैशिष्ट्यों का यथोचित समीक्षण हुआ है।

इसमें संदेह नहीं कि भारतीय साहित्याचार्यों एवम् अनुसंधित्सुओं का ध्यान पाश्चात्य साहित्यालोचन की नव्यातिनव्य प्रवृत्तियों की ओर अधिकाधिक जाने लगा है और उनमें से कई ने अपने इतिहास-ग्रंथों में उन प्रवृत्तियों का उल्लेख भी किया है। लेकिन उनकी कृतियों में केवल पाश्चात्य आलोचकों द्वारा उपस्थापित तत्तत् मान्यताओं का निष्प्राण अनुवाद मात्र प्रस्तुत हुआ है, अनावश्यक विवरणों से तटस्थ रहकर पाश्चात्य नव्या-लोचन की वैचारिक पृष्ठभूमियों पर या उसके भिन्न-भिन्न पक्षों पर ऐतिहासिक क्रम से किया गया कोई प्रामाणिक विमर्श नहीं मिलता। राजेंद्र वर्मा, रामपूजन तिवारी, रमेशचंद्र मिश्र, तारकनाथ बाली, देवेंद्रनाथ शर्मा जैसे पाश्चात्य आलोचना के कुछ मनीषी लेखक पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का अनुवदन तो करते हैं, लेकिन नव्यालोचन जैसे गंभीर विषय पर कोई नूतन आलोचनात्मक प्रकाश विकीर्ण नहीं करते। सच तो यह है कि अधिसंख्य लेखक इलियट और रिचर्ड्स के संदर्भ में ही नयी आलोचना की कमोबेश चर्चा कर लेते हैं जिससे उनके अध्येताओं की जिज्ञासा की तृप्ति नहीं हो पाती। वस्तुतः उनकी गवेषणा और लेखन का प्रधान क्षेत्र पाश्चात्य आलोचना का वह पक्ष रहा है जिससे हिंदी आलोचना चाहे तो प्रभावित-निर्देशित रही है या जो हिंदी में बहुचर्चित है। डॉ० श्यामबिहारीलाल शर्मा ने पाश्चात्य नव्यालोचन की उपलब्धियों और सीमाओं का तार-तार विश्लेषण किया है और उसके जिन पक्षों को शक्ति भर स्पष्ट करने का

प्रयास किया है, वे हैं :—

(क) पाश्चात्य नव्यालोचन की ऐतिहासिक-दार्शनिक पृष्ठभूमि (नव्यालोचन का विकास, नये समीक्षकों में पारस्परिक साम्य-वैषम्य आदि);

(ख) नव्यालोचन के काव्य-सिद्धांत और उनका शोधपरक विवेचन (रैंसम द्वारा समर्थित शब्द-विधानाश्रित अर्थ-साहचर्य की धारणा, केनेथ बर्क का प्रतीकात्मक व्यापार, प्रतीक और भारतीय काव्यशास्त्र, टेट का तनाव, ब्लैकमर की भंगिमा, ब्रुक्स का विरोधाभास, एंपसन की अनेकार्थता, एंपसन और रिचर्ड्स, भारतीय काव्यशास्त्र के संदर्भ मे अनेकार्थता-सिद्धांत);

(ग) नव्यालोचन की प्रवृत्तियाँ (समीक्षण और सर्जन का यौगपद्य, समीक्षण में वैदुष्य की अनिवार्यता, शुद्ध कविता का समर्थन, जीवनानुभूति एवं काव्यानुभूति का अंतर, ऐतिहासिक आलोचना का विरोध तथा केंद्र का आलोकन, कविता को अखंड रूप में देखने की आवश्यकता, कविता के पदान्वय का विरोध, नयी समीक्षा में भाषा की महत्ता, विज्ञान पर कला की वरीयता, परंपरा-बोध की आवश्यकता);

(घ) नव्यालोचन और प्रमुख समानांतर समीक्षा-पद्धतियाँ (शिकागो समीक्षा और शैलीविज्ञान);

(ङ) नव्यालोचन का मूल्यांकन—उसकी उपलब्धियाँ और सीमाएँ।

इन सभी बिंदुओं के स्पष्टीकरण में अनेक स्थलों पर हमें न केवल आधुनिक मनीषियों के मतों की सारासारता का निरूपण मिलता है, बल्कि लेखक के अपने विचार भी मिलते हैं। इतना ही नहीं, रैंसम, बर्क, टेट, ब्लैकमर, ब्रुक्स और एंपसन के मूलभूत काव्य-सिद्धांतों की निर्लिप्त वैज्ञानिक विवेचना के साथ-साथ उनकी समानांतर भारतीय अवधारणाओं पर भी दृष्टि-निक्षेप किया गया है और इस प्रक्रिया में पाश्चात्य एवं पौरस्त्य काव्य-सिद्धांतों के दुरूह से दुरूह विवेचनों के मंथन से जो शक्तिसाध्य नवनीतांश उपलब्ध होता है, उसे सरल-शुद्ध शैली में विशदतापूर्वक उपस्थित कर दिया गया है। डॉ० शर्मा विषय से संबद्ध मतामतों और देशी-विदेशी विद्वानों की काव्यशास्त्र-विषयक विचारणा पर भी दृष्टि डालते चलते हैं, जिससे नवीन उपकरणों की ओर यथेष्ट संकेत मिलता है।

डॉ० शर्मा का यह समग्र विवेचन कितना सुश्रृंखल और उनकी तार्किकता

कितनी प्रखर है, इसका अनुमान इस पुस्तक के लगभग हर महत्त्वपूर्ण विचार-विश्लेषण से हो जाता है। लगता है कि अब तक पाश्चात्य नव्यालोचन के संबंध में जो कुछ लिखा गया है या जो कुछ कहा गया है, वह उन्हें करामलक है। जिस अधिकार से वे पौरस्त्य विचारकों के मतों का मर्मोद्‌घाटन करते हैं, उसी अधिकार से वे "अरस्तू से लेकर टी० एस० इलियट" तक के सभी समालोचकों पर भी लेखनी चलाते हैं। ध्यातव्य है कि नव्यालोचक और शिकागो समीक्षक वैदुष्य को आलोचना का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। यह डॉ० शर्मा पर भी चरितार्थ होता है। अंतर इतना ही है कि जहाँ "शिकागो समीक्षक के ज्ञान ने उसके विवेचन को इस प्रकार आच्छादित कर लिया है कि कभी-कभी उसके संवेदनशील होने पर ही संदेह होने लगता है" वहाँ डॉ० शर्मा अपने विवेचन की आस्वादनीयता पर अपने वैदुष्य को हावी होने नहीं देते। नव्यालोचन के सभी पक्षों के अभिनिवेशपूर्वक अध्ययन से प्राप्त तथ्यों का प्रांजल तथा प्राणवंत निरूपण ही उनका एकमात्र लक्ष्य है। लेकिन वे लगे हाथों उन प्राच्य-प्रतीच्य विचारों की भी समीक्षा करते चलते हैं जिनका संबंध शब्द-विधान और अर्थ-विधान की अन्विति, काव्य-सौंदर्य, काव्य में प्रतीक-प्रयोग, छंद, अलंकार आदि की अनिवार्यता, तनाव-सिद्धांत, भंगिमा, विरोधाभास और विरोधमूलक अलंकार, अनेकार्थता, श्लेष, वक्रोक्ति आदि से है। इस प्रक्रम में वे केवल उन वरिष्ठ मनीषी आचार्यों द्वारा उपस्थापित विभिन्न अभिमतों के उद्धरण से ही संतुष्ट नहीं हो जाते जिन्होंने आलोचना के क्षेत्र में अपने उज्ज्वल चरण-चिह्न स्थापित किये हैं, बल्कि वे साथ ही साथ नवीन उद्‌भावन तथा स्वमतोपस्थान भी करते हैं और रैंसम, एंपसन जैसे पाश्चात्य नव्यालोचकों की साहित्यशास्त्रीय विचारणा को भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्रकाश में देखकर उसी निरंतर वर्धिष्णु परंपरा को समृद्ध करते हैं जिसमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल और डॉ० नगेंद्र का स्थान शीर्षस्थ है। यहाँ इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि डॉ० शर्मा की विवेचन-पद्धति पर डॉ० नगेंद्र का ही सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है और वे अपनी भाषा-शैली में नगेंद्र-स्कूल की ही गंध लिये आते हैं। जटिल कथ्य का जो विशद विश्लेषण और विचारों का जो प्रभावशाली निरूपण डॉ० नगेंद्र की आलोचनाओं में मिलता है, डॉ० शर्मा ने बहुत कुछ उसे ही इस पुस्तक में उतार दिया है। उनकी तरह ही डॉ० शर्मा भी आलोच्य लेखक में क्या विशिष्ट है तथा क्या अविशिष्ट, क्या स्वीकृति है तथा क्या विद्रोह, इन सबकी छानबीन करने के अनंतर पाश्चात्य-पौरस्त्य परंपराओं का विधिवत् समंजित विवेचन करते हैं

और अंततः अपने निष्कर्षों की प्रस्तुति करते हैं। डॉ० नगेंद्र का प्रभाव विशेष-कर उन स्थलों पर लक्षित होता है जहाँ डॉ० शर्मा ने पाश्चात्य नव्यालोचन जैसे विषय की सुदीर्घ विस्तृति को अपूर्व कसावट और संक्षेप प्रदान किया है। यह इस कारण संभव हो सका है कि लेखक पाश्चात्य नव्यालोचन के कई असंबद्ध पहलुओं को या तो छोड़ देता है या उन्हें एक ही विवेचन में अंतर्भुक्त कर लेता है। कदाचित् पाश्चात्य नव्यालोचन के ऐतिहासिक सर्वेक्षण के विस्तार के भय से ही नयी समीक्षा के मूल स्रोतों में केवल कॉलरिज, स्पिन्गार्न, ह्यूम, इलियट और रिचर्ड्स का संक्षिप्त विवेचन है और इतना ही कह देना अलम् समझा गया है कि "यद्यपि इन बीजों के प्रस्फुटन में फ्रांसीसी बिंब-वादियों, हेगेल, मैथ्यू आर्नल्ड, वाल्टर पेटर, बेनेदेतो क्रोचे, एज़रा पाउंड, जे० मिडिल्टन मरे आदि अनेक समीक्षकों तथा दार्शनिकों ने पर्याप्त योगदान किया है तथापि इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह एस० टी० कोलरिज, टी० ई० ह्यूम, जे० ई० स्पिन्गार्न, टी० एस० इलियट और आई० ए० रिचर्ड्स ने किया है इसलिए इन समीक्षकों पर कुछ विस्तार से विचार कर लेना उपयुक्त होगा।" (पृ० २)

डॉ० शर्मा की नव्यालोचन-विवेचना का महत्त्व इससे भी आँका जाना चाहिए कि इसमें कहीं भी किसी अबुद्धिगम्य तर्क का उपयोग नहीं है। उनके मत से "मात्र नयी समीक्षा ही क्यों, वरन् समग्र आधुनिक समीक्षा पर कोलरिज का प्रभाव सर्वातिशायी है।" (पृ० २) इस संदर्भ में उन्होंने एफ़० आर० लीविस, स्टेनले एडगर हाइमन तथा एलेन टेट के अभिमत भी उद्धृत किये हैं और निष्कर्ष के तौर पर कहा है, "उक्त मंतव्यों से स्पष्ट है कि कोलरिज ने वर्तमान आलोचना की लगभग सभी पद्धतियों पर अपनी गहरी अतएव अमिट छाप छोड़ी है। नयी समीक्षा की पद्धति पर तो उनकी विचारधारा एकदम ही हावी हो गयी है, और इसीलिए प्रोफ़ेसर आर० एस० क्रेन ने अधिकांश नये समीक्षकों को 'कोलरिजिअन' नाम दे दिया है।" (पृ० ३) इसे हम आँख मूँदकर स्वीकार कर सकते हैं। कॉलरिज का एक वास्तविक वैशिष्ट्य यह है कि उसने ही अंगरेजी आलोचना को दृढ़ दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया था तथा उसमें गतानुगतिकता और यदृच्छा के स्थान पर नवीन सैद्धांतिकता के संजीवन तत्त्व भरे थे। उसकी आलोचना में आधुनिक समीक्षक अस्तित्ववाद तथा मनोविश्लेषण-सिद्धांत का पूर्वाभास तो पाते ही हैं, उनका यह कहना भी सार्थक है कि रिचर्ड्स के मूल्य-सिद्धांत, छंद-विवेचन

और शाब्दिक विश्लेषण भी कॉलरिज से प्रभावित हैं। कॉलरिज द्वारा प्रदत्त सर्जन-प्रक्रिया तथा निर्वैयक्तिकता के संकेत इलियट की आलोचना में पल्लवित हुए हैं। रिचर्ड्स के मतानुसार कॉलरिज ही ऐसे प्रथम अर्थविज्ञानी हैं जिनके अर्थविज्ञान-संबंधी योगदान को गैलीलियो की क्रांतिकारी देन के समान ऐतिहासिक कहा जा सकता है। यदि डॉ० शर्मा की कॉलरिजविषयक स्थापनाएँ अतिशयोक्तिपूर्ण दीखें तो यह स्मरण कर लेना चाहिए कि आज के अधिकांश अमेरिकी समीक्षक अरस्तु और कॉलरिज के अतिरिक्त किसी अन्य आलोचक को शायद ही कभी कुछ महत्त्व देते हैं।

डॉ० शर्मा की वनसंश्लिष्ट विवेचन-पद्धति और विचारचारुता के वैभव को देखना हो तो उन स्थलों का पारायण कीजिए जहाँ उन्होंने रैंसम के शब्द-विधान का, बर्क के प्रतीकात्मक व्यापार का, टेट के तनाव का, ब्लैकमर की भंगिमा का, ब्रुक्स के विरोधाभास और एंपसन की अनेकार्थता का विवेचन किया है। इस विवेचन में उनका ध्यान उन भारतीय साहित्य-चिंतकों की ओर भी गया है जिन्होंने ऐसे ही उन्मुक्त मानदंडों की तलस्पर्शी और शाश्वत निर्मिति की है। रैंसम के शब्द-विधान के विवेचन में एक ओर तो अरस्तु और इलियट के विचार उद्धृत हैं तो दूसरी ओर भामह कुंतक, मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ, रामचंद्र शुक्ल और आचार्य नगेंद्र के। ये सभी आचार्य "शब्द और अर्थ के समवाय को काव्य" स्वीकार करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि रैंसम की वह मान्यता संगत है जिसके अनुसार कविता शब्द-विधान और अर्थ-विधान की अन्विति है। बर्क के प्रतीक-विवेचन में भी उन आचार्यों की मान्यताएँ काफी गंभीरतापूर्वक उपन्यस्त हैं जिन्होंने प्रतीक की पुरातनता तथा समस्त कलाओं की प्रतीकात्मकता की घोषणा की थी। इस संदर्भ में पश्चिमी छोर पर श्लेगल, कार्लाइल, गेटे, कैस्सिरर, सूसन के० लैंगर, जोजेफ टी० शिप्ले, सी० एम० बावरा प्रभृति हैं तो पूर्वी छोर पर वैदिक ऋषि, श्रीमद्भागवतपुराण तथा वायुपुराण के रचयिता, मम्मट आदि। डॉ० शर्मा प्रतीकों की भारतीय धारा से समस्त लौकिक संस्कृत साहित्य, नाथों, सिद्धों और संतों का काव्य, रीतिकाल और आधुनिक काल के कवियों की रचनाएँ आप्लावित पाते हैं और इसमें दो राय नहीं हो सकतीं कि "छायावादी कवि ने तो अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रायः प्रतीक का ही अवलंब लिया है।" (पृ० ६५) जहाँ एक ओर डॉ० शर्मा ने भारतीय साहित्य में प्रतीकों की एक अविच्छिन्न परंपरा देखी है, वहाँ दूसरी ओर

उन्होंने यह भी एक बहुत ही मौजूँ सवाल खड़ा किया है कि "भारत के जिन समीक्षा-शास्त्रियों ने साहित्य के विविध तत्त्वों के सूक्ष्म विश्लेषण और सिद्धांत-निर्धारण में कोई कोर-कसर न छोड़ रखी हो उन्होंने अपने ही साहित्य में प्रतीकों की इतनी अधिक समृद्ध परंपरा के रहते हुए भी प्रतीक-जैसे महत्त्वपूर्ण साहित्यिक तत्त्व को अपने चिंतन का विषय क्यों नहीं बनाया।" (पृ० ६५-६६) डॉ० शर्मा का विचार है कि "विभिन्न सिद्धांतों की स्थापना में भारतीय आचार्यों का दृष्टिकोण पर्याप्त व्यापक रहा है। पाश्चात्त्य समीक्षा में सुविचारित ऐसे अनेक काव्य-तत्त्व हैं जिनका यथावत् उल्लेख भारतीय काव्य-शास्त्र में भले ही न हो, किंतु उनका समाहार किसी-न-किसी रूप में उसमें हो अवश्य जाता है। प्रतीक, बिंब आदि कुछ ऐसे ही तत्त्व हैं जिनका नाम भारतीय आचार्यों ने नहीं लिया है, किंतु वे उनकी दृष्टि से बचे नहीं हैं। प्रतीक निःसंदेह व्यंजना-व्यापार और उसके भी एक भेद शाब्दी की ही सीमा में आ जाता है। कारण यह कि प्रतीक अनिवार्यतः व्यंजक है और जो व्यंजक है वह व्यंजनाश्रित है।" (पृ० ६६)

आगे चलकर डॉ० शर्मा ने टेट के तनाव-सिद्धांत की तलस्पर्शी व्याख्या की है, उनके द्वारा दिये गये सत्काव्य के लक्षण का निरूपण किया है और बहिस्तनाव तथा अंतस्तनाव के भेद को समझने-परखने का प्रस्ताव रखा है। तदनंतर वे अपने इस निष्कर्ष का उल्लेख करते हैं कि टेट का तनाव-सिद्धांत रीति के समीप न होकर समाधि-गुण के समकक्ष है "क्योंकि जिस प्रकार तनाव के लिए अंतस्तनाव और बहिस्तनाव अनिवार्य हैं उसी प्रकार समाधि के लिए भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत अप्रतिवार्य हैं; विरोध जिस प्रकार तनाव का अनिवार्य प्रनिबंध है उसी प्रकार समाधि का भी।" (पृ० ७२) यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि डॉ० शर्मा को प्रो० पी० एस० शास्त्री की यह स्थापना मान्य नहीं है कि "टेट द्वारा रेखांकित 'संतुलन' 'विशिष्ट पदरचना' के रूप में व्याख्यात 'रीति' की भारतीय संकल्पना के समीप पड़ता है।" इस मान्यता में उन्हें अतिव्याप्ति दोष दीखता है। (पृ० ७२) बात भी सही है। रीति का क्षेत्र निस्संदेह काफी व्यापक है और तनाव का उसकी अपेक्षा सीमित। पौरस्त्य समाधि-गुण ही पाश्चात्य तनाव के सन्निकट है। समाधि-गुण क्या है, इसकी व्याख्या भरत और दंडी के श्लोकों के आधार पर की गई है और अंत में कहा गया है कि जहाँ तक आचार्य वामन का प्रश्न है, समाधि-गुण के निरूपण में उनकी वृत्तियाँ रमी नहीं हैं, जैसा कि इस तथ्य से

प्रकट है कि उन्होंने इस पर बड़े ही चलताऊ ढंग से विचार किया है।

इसी प्रकार डॉ० शर्मा ने ब्लैकमर की भंगिमा की मूल्यवत्ता को परखा है और इसके महत्त्व का निदर्शन ब्लैकमर के इस कथन से किया है कि "जब शब्दों की भाषा असफल हो जाती है तब हमें भंगिमा की भाषा की शरण लेनी पड़ती है।" शब्दों के अर्थ-द्योतन में भंगिमा की भूमिका बड़े महत्त्व की होती है, क्योंकि भाषा के आंतरिक और काल्पनिक अर्थों का भान कोई कोश नहीं, बल्कि यह भंगिमा ही कराती है, अर्थात् वह वही "अर्थवत्ता है जो शब्दों को गति प्रदान करती है।" फिर भी, भंगिमा कविता को आँकने-परखने के लिए प्रतिमान का काम नहीं कर सकती "क्योंकि यदि किसी तत्त्व को किसी विशिष्ट कला का प्रतिमान बनाया जाता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह इतरव्यावृत, मात्र उसी कला से संबद्ध हो। निश्चय ही भंगिमा ऐसा तत्त्व नहीं है और इसीलिए वह कविता का प्रतिमान बनने की अधिकारिणी नहीं है। फिर भी वह कविता के प्रत्येक तत्त्व में स्पंदित है, इसलिए उसका महत्त्व असंदिग्ध है।" (पृ० ८०)

क्लिअंथ ब्रुक्स के विरोधाभास के विवेचन में भारतीय काव्यशास्त्र के विरोधमूलक अलंकारों को विरोधाभास के समकक्ष माना गया है और यह प्रश्न उठाया गया है कि जब विरोधाभास का मूलाधार विडंबना या आश्चर्य होता है या दोनों ही एक साथ होते हैं, तब भला वे विरोधमूलक अलंकार विरोधाभास के समकक्ष कैसे हो सकते हैं जिनमें इन तत्वों की स्थिति नहीं है? डॉ० शर्मा की दृष्टि में इस प्रश्न का कोई औचित्य नहीं है क्योंकि "विरोधाश्रित अलंकारों में तो ये तत्त्व निसर्गतः ही अंतर्भुक्त हैं।" इसी प्रकार एल्डर ऑल्सन के अनेकार्थता-सिद्धांत-संबंधी मत को असंतुलित मानते हुए डॉ० शर्मा एंपसन के अनेकार्थता-विवेचन की दिशा को अलंकारवाद की ओर मोड़ देते हैं और अनेकार्थता के उद्भावक को भारतीय काव्यशास्त्र के अलंकारवादी आचार्यों दंडी, उद्भट, रुद्रट, मम्मट, हेमचंद्र, जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित, केशवदास, कुलपति मिश्र, जसवंत सिंह, भूषण, मतिराम, भिखारीदास आदि की पंक्ति में, विशेषतः रुद्रट के साथ, ला बिठाते हैं।

इन सब आधिकारिक एवं तर्क-पोषित विवेचनाओं, अभेद्य उपपत्तियों, अकाट्य तर्कों और प्रांजल विश्लेषणों में ही इस पुस्तक का सच्चा महत्त्व सन्निहित है और इनसे साफ जाहिर है कि पाश्चात्य साहित्य-चिंतन और

पौरस्त्य काव्यशास्त्रीय विवेचन दोनों पर ही लेखक का समान अधिकार और स्वामित्व है। आलोचना की प्रक्रिया-पद्धति में प्रौढ़त्व, ताटस्थ्य और वैदुष्य के दिदृक्षु पाठक डॉ० शर्मा के इस प्रयास का अभिनंदन करेंगे और उनकी वश्यवाक् प्रतिभा की वैयक्तिकता सर्वत्र समादृत होगी, एसा मेरा विश्वास है। तथास्तु।

आचार्य एवम् अध्यक्ष, अँग्रेज़ी-विभाग, (डॉ०) रामचन्द्र प्रसाद
पटना विश्वविद्यालय,
पटना-८००००५.
दिनांक : २३.२.१९८५

# पूर्ववक्तव्य

नव्यालोचन अँग्रेज़ी साहित्य में वर्तमान शती का सर्वाधिक प्रभविष्णु समीक्षा-आंदोलन है। निश्चय ही यह आंदोलन ऐतिहासिक आलोचना के रोमानी दृष्टिकोण के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उभरा है। यों इस समीक्षा-धारा का मूल उत्स एस० टी० कोलरिज में, विशेषत: उनके कल्पना-सिद्धांत में, निहित है; टी० एस० इलियट और आई० ए० रिचर्ड्स के वस्तुनिष्ठ साहित्य-चिंतन से इसने स्पष्टत: पोषण प्राप्त किया; किंतु इसको सर्वाधिक विस्तार और गंभीरता प्रदान करने का श्रेय जॉन क्रो रैंसम, एफ़० आर० लीविस, केनेथ बर्क, एलेन टेट, ईवोर विंटर्स, आर० पी० ब्लैकमर, रॉबर्ट पेन वारेन, क्लिअंथ ब्रुक्स तथा विलियम एंप्सन जैसे विचारकों के काव्यविषयक अध्ययन, मनन और विश्लेषण को है।

प्रस्तुत ग्रंथ मेरे शोध-प्रबंध 'पाश्चात्य नव्यालोचन और समसामयिक हिंदी-आलोचना' का पूर्वार्ध है। ग्रंथ को पूर्णता प्रदान करने की दृष्टि से शोध-प्रबंध के इस अंश में यत्र तत्र कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन कर दिया गया है। समग्र ग्रंथ पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में पाश्चात्य नव्यालोचन का ऐतिहासिक सर्वेक्षण है। इस सर्वेक्षण में सर्वप्रथम नव्यालोचन की पृष्ठभूमि को उभारा गया है जिसके अंतर्गत विवेच्य समीक्षा-पद्धति के नामकरण और मूल स्रोतों पर विचार करने के उपरांत एस० टी० कोलरिज, जे० ई० स्पिन्गार्न, टी० ई० ह्यूम, टी०एस० इलियट तथा आई० ए० रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धांतों का विवेचन किया गया है। किंतु यहाँ इन समीक्षकों की साहित्य-चिंता के केवल उन्हीं बिंदुओं के आलोकन का प्रयत्न रहा है जो पाश्चात्य नव्यालोचन के मध्यवर्ती हैं, उनके सारे समीक्षादर्शों पर विचार-विमर्श का अर्थ प्रबंध को अनपेक्षित विस्तार देना होता। ठीक इसके बाद उन प्रमुख नये समीक्षकों के महत्त्वपूर्ण समीक्षा-ग्रंथों को विचार-केंद्र में रखा गया है जिनका उल्लेख पूर्ववर्ती अनुच्छेद में हुआ है।

यहाँ पर एक बात विशेष रूप से ध्यातव्य है और वह यह कि विभिन्न नये समीक्षकों को एक विशिष्ट समीक्षा-आंदोलन की परिधि में खड़े करने का अर्थ, विचारधारा के क्षेत्र में, उनके परस्पर वैमत्य को नकारना नहीं है।

यही कारण है कि अध्याय के अंत में उनके मतों के साम्य-वैषम्य का निरूपण भी किया गया है।

द्वितीय अध्याय नव्यालोचन के मूलभूत काव्य-सिद्धांतों से संबद्ध है। इसमें रैंसम के 'शब्द-विधान', केनेथ बर्क के 'प्रतीकात्मक व्यापार', एलेन टेट के 'तनाव', आर० पी० ब्लैकमर की 'भंगिमा', क्लिअंथ ब्रुक्स के 'विरोधाभास' तथा विलियम एंपसन की 'अनेकार्थता' के सिद्धांतों को व्यापक धरातल पर प्रस्तुत किया गया है। इन सभी सिद्धांतों की प्रस्तुति में सामान्यतः सबसे पहले समीक्षक-विशेष की आलोचना-कृतियों का मंथन करते हुए उसके अभीष्ट काव्य-सिद्धांतों को उजागर करनेवाले मंतव्यों की खोज की गयी है, पुनः इन मंतव्यों को नियोजित कर उनका सिद्धांत-रूप में विवेचन और विश्लेषण किया गया है। आवश्यकता के अनुरूप किसी काव्य-खंड की व्याख्या-द्वारा सिद्धांत को विशद और प्रांजल बनाया गया है, फिर भारतीय काव्यशास्त्र और काव्य के संदर्भों में इन सिद्धांतों की निरख-परख की गयी है, और प्रत्येक सिद्धांत के अंत में उसका मूल्यांकन है। वस्तुतः उक्त मानदंड पाश्चात्त्य नव्यालोचन के मेरुदंड हैं। इसीलिए इन सिद्धांतों को यथाशक्ति अनाविल रूप प्रदान करने की चेष्टा की गयी है। और इसी कारण यह संपूर्ण ग्रंथ का आधारभूत अध्याय माना जा सकता है।

तृतीय अध्याय में पाश्चात्त्य नव्यालोचन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों का विश्लेषण है। प्रवृत्ति-विशेष वरेण्य है या त्याज्य, अथवा उसका कितना अंश ग्राह्य है और कितना अग्राह्य, इस सबकी मीमांसा विभिन्न ख्यातिलब्ध रचनाओं के आलोक में करने का प्रयास है।

पाश्चात्त्य नव्यालोचन को अधिकाधिक अनाविल रूप प्रदान करने की इच्छा से चतुर्थ अध्याय में इसके समानांतर विकसित होनेवाली आलोचना की उन पद्धतियों को विमर्शित किया गया है जो इसी समीक्षा की भाँति रचना को केंद्र में रखकर समीक्षण-कार्य में अग्रसर हुई हैं। इन समीक्षा-रूपों में सर्वप्रथम शिकागो समीक्षा (समीक्षक) को लिया गया है। यहाँ इस समीक्षा के उद्‌भव के कारणों पर विचार करने के अनंतर उसके स्वरूप को उद्‌घाटित किया गया है और फिर पाश्चात्त्य नव्यालोचन के साथ इसके साम्य-वैषम्य का विवेचन है। शिकागो समीक्षा के उपरांत शैलीशास्त्र (शैलीविज्ञान ?) की विवृति है। इस समीक्षा-पद्धति के नामकरण, स्कूलों और प्रवृत्तियों के विश्लेषण के बाद नव्यालोचन और इसके बीच साम्य-वैषम्य का निरूपण है।

पंचम अध्याय नव्यालोचन के मूल्यांकन से संवद्ध है। यहाँ सूत्रात्मक शैली में इसकी उपलब्धियों और सीमाओं का आकलन है।

ग्रंथ के प्रदाय के विषय में यह कहना अनुचित न होगा कि पाश्चात्त्य नव्यालोचन के जो सिद्धांत विभिन्न समीक्षा-ग्रंथों में छितराये पड़े थे, उनका एकत्र समाहरण कर उन्हें केवल व्यवस्थित, विवेचित और विश्लेषित ही नहीं किया गया है वरन् भारतीय काव्यशास्त्र के परिपार्श्व में उनके मूल्य को भी आँका गया है। इसी प्रकार, इस आलोचना की प्रवृत्तियों का संधान और उनके नियोजन का कार्य भी पर्याप्त दुष्कर था; क्योंकि नयी समीक्षा की प्रवृत्तियाँ कहीं एक स्थल पर नहीं मिलतीं, उन्हें अनेक ग्रंथों से खोजना पड़ा है। इन प्रवृत्तियों की ग्राह्यता-अग्राह्यता के विषय में मेरे अपने विचार हैं। यह बात अलग है कि इन विचारों का मेल कतिपय अन्य मनीषियों की चिंता-धारा से हो जाता है।

अंततः बात आती है ग्रंथ की उपयोगिता की। इस विषय में दो प्रश्नों का उठना बड़ा स्वाभाविक है। प्रथम तो यह कि हिंदी में अँग्रेज़ी की इस समीक्षा-पद्धति की अवतारणा की क्या आवश्यकता थी? दूसरे यह कि यदि यह आवश्यकता थी भी तो हिंदी में तो इस समीक्षा का निर्वचन पहले से ही अनेक ग्रंथों में हो चुका है फिर इस पर स्वतंत्र रूप से ग्रंथ क्यों लिखा गया? प्रथम प्रश्न के उत्तर में यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि 'तार सप्तक' के प्रकाशन के आस-पास हिंदी-समीक्षा में भी कुछ पाश्चात्त्य नव्यालोचन-जैसे ही स्वर सुनायी पड़े थे। अपने आरंभिक चरण में ये स्वर कुछ मंद थे, किंतु समय के साथ इन स्वरों में प्रखरता आती गयी और १९६० ई० के लगभग हिंदी के अनेक उदीयमान समीक्षक पाश्चात्त्य नव्यालोचन के काव्य-सिद्धांतों का बड़े ज़ोरों से बखान करने लगे। इन समीक्षकों ने उत्साह के अतिरेक में इन प्रतिमानों को अपना तो लिया, किंतु इनमें से अधिसंख्य इन आयातित काव्य-मानों से सम्यक् अवगत न थे। उनका अधकचरा ज्ञान हिंदी समीक्षा के लिए बोझ बन गया। इन काव्य-सिद्धांतों के निर्भ्रांत ज्ञान के लिए हिंदी में नव्यालोचन का आख्यान अपरिहार्य था। दूसरा प्रश्न प्रथम प्रश्न से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। हिंदी के जिन ग्रंथों में पाश्चात्त्य नव्यालोचन की व्याख्या की गयी है उनका नाम-परिगणन सुधी जनों के अध्ययन की प्रगाढ़ता और व्यापकता का अपमान ही होगा—इन ग्रंथों मे लगभग सभी परिचित हैं। मुख्य मसला यह है कि इन ग्रंथों के रहते हुए उक्त समीक्षा-पद्धति पर स्वतंत्र ग्रंथ के लिखने की कौन-सी ज़रूरत आ पड़ी? इस प्रश्न का उत्तर देना

मेरे लिए छोटे मुँह बड़ी बात होगी। ऐसी स्थिति में मेरा मौन-ग्रहण ही उचित है। पूर्ववर्ती ग्रंथों की परंपरा में प्रस्तुत ग्रंथ की सार्थकता के निर्णय को मैं विद्वद्वर्ग के विवेक पर ही छोड़ता हूँ।

मेरे इस शोध-कार्य के निर्देशक श्रद्धेय डॉ० नगेंद्र और पूज्य डॉ० हरभजन सिंह रहे हैं। उनके प्रति मौन प्रणाम के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार का कृतज्ञता-ज्ञापन औपचारिकता मात्र ही होगा। दोनों के वत्सल व्यवहार और गंभीर चिंतन-दृष्टि से लेखक ने अपनी पात्रता के अनुरूप भरपूर लाभ उठाया है। ग्रंथ में जो कुछ ग्राह्य है वह इन दोनों का ही वरदान है। सीमाओं और दोषों के लिए तो उत्तरदायी मैं ही हूँ।

अमेरिकन स्टडीज़ रिसर्च सेंटर, हैदराबाद के अधिकारियों के प्रति आभार की स्वीकृति अपरिहार्य है। ये महानुभाव, लेखक के अनुरोध पर, अमेरिकी नव्यालोचन से संबद्ध ऐसी अनेक पुस्तकें निरंतर भेजते रहे हैं जो दिल्ली में सुलभ नहीं थीं।

नतशिर हूँ पटना विश्वविद्यालय के अँग्रेज़ी-विभाग के आचार्य एवम् अध्यक्ष डॉ० रामचंद्र प्रसाद के समक्ष जिन्होंने ग्रंथ की अत्यन्त विशद भूमिका लिखकर मेरा उत्साहवर्द्धन किया है।

वे सभी मनीषी मेरे वंदनीय हैं जिनके अमूल्य ग्रंथों ने किसी-न-किसी रूप में मेरे चिंतन-मार्ग को आलोकित किया है।

स्वजन और इष्ट मित्र मेरी जीवन-यात्रा के अभिन्न साथी हैं। इस कार्य में उनसे पग-पग पर मुझे जो सहायता प्राप्त हुई है उस पर मैं अपना अधिकार समझता हूँ। फिर धन्यवाद कैसा!

अंत में, आभारी हूँ देववाणी-प्रकाशनम् का जिसके तत्पर सहयोग से ग्रंथ यथासंभव शुद्ध रूप में प्रकाशित हो सका है। साधुवाद करता हूँ प्रवीण प्रिंटिंग सर्विस का जिसके अथक परिश्रम से ग्रंथ का मुद्रण शीघ्र हो पाया है।

श्रीरामनवमी, २०४२ विक्रमाब्द। श्यामविहारीलाल शर्मा

सी-१ए/२८ए, जनकपुरी,
नयी दिल्ली-११००५८

# विषयानुक्रम


| अध्याय | | पृष्ठ |
|---|---|---|
| १. | **ऐतिहासिक सर्वेक्षण** | १-४७ |
| | (अ) पृष्ठभूमि—नामकरण (१-२), नव्यालोचन का विकास : मूल स्रोत : सैमुएल टेलर कोलरिज (२-४). जे०ई० स्पिन्गार्न (४), टी०ई० ह्यूम (४-५), टामस स्टर्न्स इलियट (५-८), ईवोर आर्मस्ट्राँग रिचर्ड्स (८-११); (आ) प्रमुख समीक्षक—जॉन क्रो रैंसम (१२-१६), फ़्रैंक रेमंड लीविस (१६-१७), केनेथ वर्क (१७-२०), एलेन टेट (२०-२३), ईवोर विंटर्स (२३-२८), रिचर्ड पामर ब्लैकमर (२८-३२), रॉबर्ट पेन वारेन (३२-३५), क्लिअंथ ब्रुक्स (३५-४१), विलियम एंपसन (४१-४४), नये समीक्षकों में पारस्परिक साम्य-वैषम्य (४४-४७)। | |
| २. | **काव्य-सिद्धांत** | ४८-१०४ |
| | रैंसम का 'शब्द-विधान' (४९-६०), केनेथ बर्क का 'प्रतीकात्मक व्यापार' (६०-६७), एलेन टेट का 'तनाव' (६७-७४), आर० पी० ब्लैकमर की 'भंगिमा' (७४-८०), क्लिअंथ ब्रुक्स का 'विरोधाभास' (८०-८७), विलियम एंपसन की 'अनेकार्थता' (८७-१०३), निष्कर्ष (१०३-१०४)। | |

३. प्रवृत्ति-विश्लेषण १०५-१४६

केंद्र का आलोकन (१०५-१०६), कविता को अखंडता में देखने की प्रवृत्ति (१०६-११४), पदान्वय का विरोध (११४-११८), काव्य-भाषा का गंभीर चिंतन और निर्वचन (११८-१२३), कविता और विज्ञान के अंतर पर बल (१२३-१२५), काव्य में परंपरा के प्रति आग्रह (१२५-१३०), समीक्षण और सर्जन का यौगपद्य (१३०-१३४), समीक्षा में वैदुष्य की अनिवार्यता का प्रतिपादन (१३४-१३६), शुद्ध कविता का समर्थन (१३६-१४०), जीवनानुभूति एवं काव्यानुभूति के अंतर का विवेचन (१४०-१४२), ऐतिहासिक समीक्षा का विरोध (१४२-१४६)।

४. समानांतर समीक्षा-पद्धतियाँ १४७-१६६

शिकागो समीक्षा (१४७-१५३), नव्यालोचन एवं शिकागो समीक्षा—साम्य-वैषम्य (१५३-१५७), शैली-विज्ञान (१५७-१६४), नव्यालोचन एवं शैलीशास्त्र—साम्य-वैषम्य (१६४-१६६)।

५. मूल्यांकन १६७-१७१

उपलब्धियाँ (१६७-१६९), सीमाएँ (१६९-१७१)।

संदर्भ-ग्रंथ १७३-१८०

१

# ऐतिहासिक सर्वेक्षण

## (अ) पृष्ठभूमि

पाश्चात्य समीक्षा-जगत् में जब समीक्षक की दृष्टि काव्य-कृति की अपेक्षा कृतिकार पर अधिक केंद्रित हो गयी तब आलोचक के इस रोमानी दृष्टिकोण के विरुद्ध बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक में वहाँ समीक्षकों का एक ऐसा वर्ग सामने आया जिसने कृतिकार का पूर्णतः निषेध कर अपने पर्यालोचन का केंद्र मात्र कृति को बनाया। इस वर्ग के मतानुसार कृति के विवेचन, विश्लेषण— केंद्र के आलोकन — में ही आलोचक की इतिकृत्यता निहित है — उस कृति के सर्जक के विभिन्न परिवेशों एवं सर्जना के क्षणों में प्रवहमान उसकी मनःस्थिति से उसे कुछ लेना-देना नहीं है।

यह समीक्षक-वर्ग किसी भी काव्य-रचना को एक अखंड इकाई स्वीकार करता है। इस वर्ग की मान्यता है कि कविता को संवेद्य-तत्त्व (कॉन्टेंट) और रूप-तत्त्व (फ़ॉर्म) में विलगाकर देखना कठिन ही नहीं, असंभव भी है—इस प्रकार की शल्य-क्रिया से कविता का सारा सौंदर्य नष्ट हो जाता है। अत: कविता को समग्र रूप में निरखना-परखना ही आलोचक का आदि और अंतिम कर्त्तव्य है।

नामकरण : कविता की इस उपर्युक्त अन्वीक्षण-पद्धति को ही पश्चिम में नव्यालोचन किंवा नयी समीक्षा (न्यू क्रिटिसिज़्म) की संज्ञा दी गयी है। यों तो इस शब्दबंध के सर्वप्रथम प्रयोक्ता समीक्षा-इतिहास के विशारद प्रोफ़ेसर जे०ई० स्पिन्गार्न थे जिन्होंने १९१० ई० में इसी शीर्षक (द न्यू क्रिटिसिज़्म) से कोलंबिया विश्वविद्यालय में अपना एक लेख प्रस्तुत किया था[1], तथापि आलोचना की पद्धति-विशेष के रूप में उक्त अभिधान का व्यवहार जॉन क्रो रैंसम की उस पुस्तक से आरंभ होता है जिसका प्रकाशन न्यू डाइरेक्शंस, न्यूयार्क से १९४१ ई० में इसी शीर्षक के अंतर्गत हुआ था।

१. इस लेख का प्रकाशन-वर्ष १९११ ई० है।

विलअंथ ब्रुक्स का मंतव्य है कि रैंसम ने मूलतः आधुनिक अथवा समसामयिक आलोचना को यह तटस्थ तथा सीधा-सादा नाम दे दिया था[1] इसीलिए उन्होंने प्रस्तुत नामकरण को अर्थहीन घोषित कर उसके प्रति अपना असंतोष व्यक्त किया है और इसके लिए 'संरचनात्मक' (स्ट्रक्चरल) अथवा रूपात्मक (फ़ॉर्मल) आलोचना नाम संस्तुत किया है।[2] यही कारण है कि साहित्य-जगत् में समीक्षा की उक्त प्रवृत्ति को ब्रुक्स-प्रदत्त नामों से भी अभिहित किया जाता है, किंतु प्रचलित नाम सामान्यतः 'नयी समीक्षा' ही है।

## नव्यालोचन का विकास

**मूल स्रोत :**

जो नव्य आलोचना १९२० ई० के आस-पास इंग्लैंड में प्रस्फुटित होकर १९३० ई० के इर्द-गिर्द संयुक्त राज्य अमेरिका में विशेषतः, तथा इंग्लैंड में सामान्यतः, पल्लवित हुई, और इसके उपरांत, किसी-न-किसी रूप में, जिसका अद्यतन भरपूर पुष्पन होता आया है उसके बीज संवेद्य एवं रूप तत्त्वों की अखण्डताविषयक अवधारणा के रूप में अरस्तू से ही उपलब्ध होने प्रारंभ हो जाते हैं। यद्यपि इन बीजों के प्रस्फुटन में फ्रांसीसी बिंबवादियों, हेगेल, मैथ्यू आर्नल्ड, वाल्टर पेटर, बेनेदेतो क्रोचे, एज़रा पाउंड, जे० मिडिल्टन मरे आदि अनेक समीक्षकों तथा दार्शनिकों ने पर्याप्त योगदान किया है तथापि इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह एस० टी० कोलरिज, टी० ई० ह्यूम, जे० ई० स्पिन्गार्न, टी० एस० इलियट और आई०ए० रिचर्ड्स ने किया है इसलिए इन समीक्षकों पर कुछ विस्तार से विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

**सैमुएल टेलर कोलरिज (१७७२-१८३४) :** मात्र नयी समीक्षा ही क्यों, वरन् समग्र आधुनिक समीक्षा पर कोलरिज का प्रभाव सर्वातिशायी है। यही कारण है कि वर्तमान समीक्षा के दिग्गज एफ़० आर० लीविस ने उन्हें 'आधुनिक आलोचना के पुनरुद्धारकर्त्ता' की पदवी से मंडित किया है। स्टेनले एडगर हाइमन ने तो 'बायोग्रेफिआ लिटरेरिआ' को 'आधुनिक आलोचना की बाइबिल'

---

१. द्रष्टव्य, रॉबर्ट वूस्टर स्टालमैन-द्वारा संकलित ग्रंथ 'क्रिटीक्स एंड एसेज इन क्रिटिसिज़्म' का विलअंथ ब्रुक्स-द्वारा लिखित 'फ़ोरवर्ड', पृ० १६

२. ए शेपिंग ज्वॉइ (भूमिका-भाग), पृ० १३

तर्क की संज्ञा दे डाली है ।[1] स्वच्छंदतावाद से अपना वैमत्य व्यक्त करते हुए भी एलेन टेट ने 'बायोग्रेफिआ' के चतुर्दश अध्याय को विगत सौ वर्षों से भी अधिक अवधि की काव्य-समीक्षा का मेरुदंड स्वीकार किया है ।[2] लगभग यही दृष्टिकोण आई० ए० रिचर्ड्स का भी है ।[3]

उक्त मंतव्यों से स्पष्ट है कि कोलरिज ने वर्तमान आलोचना की लगभग सभी पद्धतियों पर अपनी गहरी अतएव अमिट छाप छोड़ी है । नयी समीक्षा की पद्धति पर तो उनकी विचारधारा एकदम ही हावी हो गयी है[4]; और इसीलिए प्रोफ़ेसर आर० एस० क्रेन ने अधिकांश नये समीक्षकों को 'कोलरिजिअन' नाम दे डाला है ।[5]

इस तथ्य से तो सभी अवगत हैं कि कोलरिज ने 'बायोग्रेफिआ लिटरेरिआ' में कल्पना पर जमकर विचार किया है । उन्होंने कला-सर्जना के मूल में इसी कल्पना को माना है । उनकी दृष्टि में यही वह तत्त्व है जो दो विरोधी अथवा विसंगत गुणों के बीच संतुलन एवं सामंजस्य स्थापित करता है — सम-विषम, सामान्य-विशेष, विचार-बिंब, व्यष्टि-वर्ग, नवता-पुरातनता, आवेग-विवेक, आत्मसंयम-उत्साह, नैसर्गिक-कृत्रिम जैसे वैपरीत्यों के बीच समंजन का कार्य इसी कल्पना का है ।[6] यहीं से संकेत ग्रहण कर अनेक नये समीक्षकों ने आलोचना के अपने पृथक्-पृथक् मानदंडों की स्थापना की है — रैंसम के 'अर्थ-विधान' (स्ट्रक्चर) और 'शब्द-विधान' (टेक्स्चर), टेट के 'तनाव' (टेंशन), ब्रुक्स के 'विरोधाभास' (पैराडॉक्स), तथा कुछ सीमा तक एंपसन की 'अनेकार्थता' (ऐंबिगुइटी) के सिद्धांतों का मूल उत्स कोलरिज की यही चिंताधारा है । नये आलोचक के द्वारा कविता को एक अखंड इकाई स्वीकार करने की प्रेरणा का मुख्य स्रोत भी कोलरिज की इसी विशिष्ट कल्पना में निहित है ।

आज नया समीक्षक काव्य-भाषा की जिस उधेड़-बुन में लगा हुआ है वह भी बहुत-कुछ कोलरिज की ही देन है; क्योंकि 'बायोग्रेफिआ' में उन्होंने काव्य-भाषा की विभिन्न समस्याओं पर जमकर मनन किया है ।

---

१. दि आर्म्ड विज़न, पृ० ११
२. रीज़न इन मैडनेस, पृ० ४५
३. प्रिंसिपिल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म, पृ० १४०
४. पर्स्पेक्टिव्स इन कॉन्टेंपोरेरी क्रिटिसिज़्म, लेखक—एस० एन० ग्रेब्स्टाइन, पृ० ७७
५. टू एसेज़ इन प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म (प्रेफ़ेटॉरी नोट), द यूनिवर्सिटी रिव्यू, ८ (१९४२), पृ० १९९
६. बायोग्रेफिआ लिटरेरिआ, पृ० १७४

नयी समीक्षा में कला अथवा कविता को विज्ञान से असंपृक्त भूमि पर खड़ा करने का निरंतर प्रयास किया जाता रहा है। कोलरिज भी इन दोनों के बीच लगातार एक निश्चित व्यावर्त्तक रेखा खींचते रहे हैं।

**जे० ई० स्पिन्गार्न (१८७५-१९३९)** : संयुक्त राज्य अमेरिका में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के प्रबल समर्थक एवं प्रचारक, तथा रैंसम को विवेच्य समीक्षा का नाम सुझानेवाले जे० ई० स्पिन्गार्न की नव्यालोचन को मात्र एक देन है, और वह यह कि उन्होंने कृति से हटकर समीक्षा करनेवाले प्रभाववादी, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, सैद्धांतिक तथा सौंदर्यशास्त्रीय आलोचकों पर गहरी चोट करते हुए इन सभी का ध्यान 'कृति' की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने अपने निबंध 'द न्यू क्रिटिसिज़्म' में समीक्षक को लताड़ते हुए उससे कहा, "हमारी रुचि आप में नहीं, अपितु 'प्रॉमीथियस अनबॉउंड' (महाकवि शैले की एक प्रसिद्ध कविता का नाम) में है। यदि आप अपने स्वास्थ्य का बखान करते हैं तो इससे हमें उक्त कविता के समझने या आस्वादन में तो कोई सहायता नहीं मिलेगी। आपकी आलोचना कृति से निरंतर दूर होती जाती है और उसके केंद्र आप तथा आपके भावावेग होते हैं।"[1] स्पिन्गार्न के इस कथन से स्पष्ट है कि वे आलोचक से कृति की समीक्षा की अपेक्षा रखते थे और यही वह बिंदु है जिसे नया समीक्षक भी अपनी आलोचना का केंद्र बनाता है।

**टी० ई० ह्यूम (१८८३-१९१७)** : रॉबर्ट वूस्टर स्टालमैन, डेविड डैचिज़, ए० जी० जॉर्ज प्रभृति अनेक समीक्षाशास्त्रियों ने नयी समीक्षा पर ह्यूम के प्रभाव की बड़े ही निर्भ्रांत शब्दों में चर्चा की है।[2] वस्तुतः ह्यूम ने प्रथम महासमर (१९१७ ई०) में वीरगति प्राप्त करने से ठीक पूर्व के कुछ वर्षों में रचित निबंधों में रोमानी साहित्य की व्यक्तिवादिता और दुरूहता पर गहरी चोट कर कविता में "भावावेगविहीन तथा ठोस" बिंबों के निर्माण के लिए हिमायत की थी। इन दिनों वे कला के क्षेत्र में वस्तुपरकता एवम् अनुशासन के अधिवक्ता बन गये थे। टी० एस० इलियट के निर्वैयक्तीकरण की आधार-भूमि ह्यूम के ये ही निबंध हैं। उन्होंने बड़े ही प्रबल शब्दों में घोषणा की थी कि अब वह समय आ गया है जब रोमानी परंपरा अपनी चरम परिणति

---

१. अमेरिकन लिटरेरी क्रिटिसिज्म, संपादक—चार्ल्स आई० ग्लिक्सबर्ग, पृ० ७७

२. (अ) क्रिटीक्स एंड एसेज़ इन क्रिटिसिज़्म, पृ० ५०२

(आ) ए टाइम ऑफ़ हार्वेस्ट, संपादक—रॉबर्ट ई० स्पिलर, पृ० १००

(इ) क्रिटिक्स एंड क्रिटिसिज़्म, पृ० १६२

को प्राप्त हो चुकी है और ऐसे समय में इस मृत परंपरा के स्थान पर किसी नूतन परंपरा अथवा तकनीक को प्रतिष्ठित करने की तात्कालिक आवश्यकता है। रोमानी साहित्य के प्रति यही वह विद्रोही स्वर है जिसकी प्रतिध्वनि नयी समीक्षा में निरंतर सुनायी पड़ रही है।

**टॉमस स्टर्न्स इलियट (१८८८-१९६५)**: सच्चे अर्थों में नयी समीक्षा का जन्म टी० एस० इलियट से ही हुआ है। भले ही कुछ विद्वानों को उन्हें इस समीक्षा-पद्धति का जनक स्वीकार करने में विप्रतिपत्ति हो, किंतु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि वे एक ऐसे आलोक-स्तंभ हैं जिससे प्रत्येक नया समीक्षक अपनी आवश्यकता के अनुरूप प्रकाश ग्रहण करता रहा है। नयी समीक्षा पर विचार करनेवाले प्रत्येक चिंतक, यहाँ तक कि प्रत्येक नये आलोचक ने भी, उनके व्यापक प्रभाव को मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। विलियम एल्टन ने तो उन्हें नयी समीक्षा का 'मूर्तिमान प्रभाव' ही घोषित कर दिया है।[1] ओलिवर एल्स्टन की दृष्टि में वे नये समीक्षकों के 'संरक्षणकर्त्ता देवदूत' हैं।[2]

इलियट की समीक्षा-कृतियों के नाम हैं—'एज़रा पॉउंड : हिज़ मीट्रिक एंड पोइट्री' (१९१७) 'द सेक्रेड वुड : एसेज़ ऑन पोइट्री एंड क्रिटिसिज़्म' (१९२०), 'होमेज टु जॉन ड्राइडन : थ्री एसेज़ ऑन पोइट्री इन द सेवेनटींथ सेंचुरी' (१९२४), 'शेक्सपियर एंड द स्टॉइसिज़्म ऑफ़ सेनेका' (१९२७), 'फ़ॉर लैंसलॉट एंड्रयूज़ : एसेज़ ऑन स्टाइल एंड ऑर्डर' (१९२८), 'दांते' (१९२९), 'सेलेक्टेड एसेज़' १९१७-१९३२' (१९३२), 'जॉन ड्राइडन : द पोइट, द ड्रामाटिस्ट, द क्रिटिक' (१९३२), 'द यूज़ ऑफ़ पोइट्री एंड द यूज़ ऑफ़ क्रिटिसिज़्म : स्टडीज़ इन द रिलेशन ऑफ़ क्रिटिसिज़्म टु पोइट्री इन इंग्लैंड' (१९३३), 'आफ़्टर स्ट्रेंज गॉड्स : ए प्राइमर ऑफ़ मॉडर्न हेरेसी' (१९३४), 'एलिज़ाबेथन एसेज़' (१९३४), 'एसेज़ एंशिएंट एंड मॉडर्न' (१९३६), 'पॉइंट्स ऑफ़ व्यू' (१९४१), 'द क्लासिक्स एंड द मैन ऑफ़ लेटर्स' (१९४२), 'द म्यूज़िक ऑफ़ पोइट्री' (१९४२), 'व्हाट इज़ ए क्लासिक ?' (१९४५), 'ऑन पोइट्री' (१९४७), 'मिल्टन' (१९४७), 'फ़्रॉम पो टु वेलरी' (१९४८), 'द एम्स ऑफ़ पोइटिक ड्रामा' (१९४९), 'पोइट्री एंड ड्रामा' (१९५१), 'अमेरिकन लिटरेचर एंड द अमेरिकन लैंग्वेज' (१९५३), 'द थ्री वॉइसेज़ ऑफ़ पोइट्री' (१९५३), 'द लिटरेचर ऑफ़

१. अमेरिकन राइटिंग इन द ट्वेंटीएथ सेंचुरी, लेखक—विलार्ड थॉर्प, पृ० ३००
२. ओपिनियंस ऑफ़ ओलिवर एल्स्टन, लेखक—वान वाइक ब्रुक्स, पृ० २४१

पॉलिटिक्स' (१९५३), 'रिलीजस ड्रामा, मेडिएवल एंड मॉडर्न' (१९५४), 'द फ्रॉन्टिएर्स ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' (१९५६), 'ऑन पोइट्री एंड पोइट्स' (१९५७), 'जॉर्ज हर्बर्ट' (१९६२), तथा 'टु क्रिटिसाइज़ द क्रिटिक एंड ऑदर राइटिंग्स' (१९६५)। इन समीक्षा-ग्रंथों के अतिरिक्त इलियट ने मेरिआन मूर की 'सेलेक्टेड पोइम्स' (१९३५), डिजुना बारनेस की 'नाइटवुड' (१९३७) और पाल वेलरी की 'द आर्ट ऑफ़ पोइट्री' (१९५८) जैसी कृतियों की भूमिकाएँ भी लिखी हैं जो साहित्य-जगत् में पर्याप्त चर्चित रही हैं। उनका एक लेख 'ए नोट ऑन टू ओड्स ऑफ़ कॉउली' शीर्षक से क्लेरेंडन प्रेस ऑक्सफ़ॉर्ड से प्रकाशित ग्रंथ 'सेवेनटींथ सेंचुरी स्टडीज़' में भी निकला है।

विवेच्य विषय के संदर्भ में इलियट की इन सारी पुस्तकों का पर्यवेक्षण न तो संभव है और न ही उपादेय। यहाँ पर तो उनकी केवल उस विचारधारा का ही प्रस्तुतीकरण अभीष्ट है जिसने नयी समीक्षा को दिशा और गति प्रदान की है। इस दृष्टि से १९१९ ई० में प्रकाशित 'ट्रेडिशन एंड द इंडिविजुअल टेलेंट' नामक निबंध अत्यंत महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि साहित्य-जगत् में यह एक नूतनक्रांतिविधायिनी घटना के रूप में अवतरित हुआ है। यही वह निबंध है जिसमें इलियट के ख्यातनामा निर्वैयक्तीकरण के सिद्धांत की स्थापना हुई है। इस सिद्धांत को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कविता और कवि के बीच अंतर को एक दृष्टांत के द्वारा बड़े ही निर्भ्रांत शब्दों में व्यक्त किया है — "जब प्लेटिनम के एक तंतु की उपस्थिति में ऑक्सीजन एवं सल्फ़र डायोक्साइड गैसों को मिश्रित किया जाता है तब ये दोनों सल्फ़र-एसिड का निर्माण करती हैं। यह संघटन तभी होता है जब प्लेटिनम विद्यमान हो, तथापि इस नवनिर्मित एसिड में प्लेटिनम का कोई चिह्न नहीं होता, और प्लेटिनम स्वयं भी प्रत्यक्षत: अप्रभावित, निष्क्रिय, तटस्थ तथा अपरिवर्तित रहती है। कवि-मानस प्लेटिनम का एक तंतु है। यह अंशत: अथवा समग्रत: स्वयं व्यक्ति के अनुभव से परिचालित हो सकता है, किंतु कलाकार जितना अधिक सिद्ध होगा उतना ही उसके भीतर भोक्ता मानव और स्रष्टा मानस के बीच पार्थक्य पूर्ण होगा, स्रष्टा मानस उन मनोवेगों को और अच्छी प्रकार पचायेगा तथा रूपांतरित करेगा जो उसकी सामग्री हैं।"[1] अपनी इस धारणा को और अधिक स्पष्ट करते हुए इलियट ने लिखा है—"कवि के पास अभिव्यक्ति के लिए "व्यक्तित्व" नहीं, अपितु एक विशिष्ट माध्यम होता है, जो मात्र एक माध्यम ही होता है — व्यक्तित्व नहीं, जिसमें प्रभाव और अनुभव विशिष्ट एवं असंभावित रूप

१. द सेक्रेड वुड, पृ० ५४

से संयुक्त हो जाते हैं। हो सकता है कि व्यक्ति के लिए जो प्रभाव और अनुभव महत्त्वपूर्ण हैं उनका कविता में कोई स्थान न हो, और जो कविता में महत्त्वपूर्ण हों उनकी भूमिका व्यक्ति में, व्यक्तित्व में, सर्वथा नगण्य हो।"[१] इलियट ने वर्ड्सवर्थ की उस धारणा का जोरदार खंडन किया है जिसमें "शांति के क्षणों में पुनरुद्बुद्ध मनोवेगों को कविता" माना गया है। अपने वैमत्य की बड़े ही प्रबल शब्दों में घोषणा करते हुए इलियट ने लिखा — "कविता मनोवेग की अभिव्यक्ति नहीं, अपितु मनोवेग से पलायन है; यह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, अपितु व्यक्तित्व का निषेध है।"[२] यदि कवि को अपने मनोवेगों की अभिव्यक्ति करनी ही पड़ जाय तो इलियट ने इसके लिए 'वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता' (ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव) के सिद्धांत की स्थापना की है जिसके अनुसार बाह्य जगत् से गृहीत एक वस्तु-संघात, एक परिस्थिति, एक घटना-शृंखला को इस प्रकार नियोजित किया जाना चाहिए जिससे ये हमारे अंतर के विशिष्ट भाव को व्यक्त करने का सूत्र बन जायँ। इसमें कवि कुछ ऐसे बाह्य तथ्यों की योजना करता है कि जिन्हें देखते या सुनते ही उसी क्षण संबद्ध भाव उद्बुद्ध हो जाते हैं।[३] स्पष्ट है कि इलियट के मतानुसार कविता में कृतिकार के मनोवेगों और व्यक्तित्व का कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व मात्र कृति का है जिसका कृतिकार माध्यम भर है। इसीलिए इलियट की दृष्टि में "ईमानदार आलोचना और संवेदनशील आस्वादन का लक्ष्य कवि नहीं, अपितु कविता होती है।"[४] उन्होंने कविता के पाठक की "अभिरुचि को कवि से कविता की ओर मोड़ना अपने आप में एक प्रशंसनीय लक्ष्य"[५] माना है।

इलियट के इस निबंध का नयी समीक्षा पर इतना व्यापक प्रभाव पड़ा है कि लगभग सभी नये समीक्षकों की आलोचना-प्रक्रिया न्यूनाधिक मात्रा में इसमें व्यक्त विचारधारा से परिचालित है। एलेन टेट के आलोचक-व्यक्तित्व पर तो निर्वैयक्तीकरण का सिद्धांत पूरी तरह ही छा गया है। प्रस्तुत निबंध के घनीभूत प्रभाव को ही लक्ष्य करके एस० एन० ग्रेव्स्टाइन ने इसे बीसवीं शताब्दी की रूपात्मक समीक्षा के धर्म-ग्रंथों की श्रेणी में रखा है।[६]

---

१. द सेक्रेड वुड, पृ० ५६
२. वही, पृ० ५८
३. वही, पृ० १००
४. वही, पृ० ५३
५. वही, पृ० ५९
६. पर्स्पेक्टिव्स इन कॉन्टेंपोरेरी क्रिटिसिज्म, पृ० ७७

भले ही ढुल-मुल रूप में सही, इलियट ने संवेद्य और रूप तत्त्वों की अखंडता की बात भी कही है। उनका कथन है कि एक सिद्ध कवि की रचना में रूप और संवेद्य तत्त्व एकाकार हो जाते हैं।[1]

भाषा, बिंब तथा रूपक के आधार पर कविताओं के विश्लेषण की जिस पद्धति को इलियट ने जन्म दिया उसी का अनुकरण लगभग समस्त नये आलोचकों ने किया है।

क्लिअंथ ब्रुक्स, एलेन टेट, एफ़० आर० लीविस आदि समीक्षकों का परंपरा के प्रति मोह भी इलियट की ही देन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नयी समीक्षा को दिशा प्रदान करने में इलियट ने महनीय योगदान किया है। स्वयं जे० सी० रैंसम के शब्दों में, इलियट नयी समीक्षा के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्रोतों में से एक हैं।[2]

**ईवोर आर्मस्ट्रांग रिचर्ड्स (१८९३-१९८०) :** इसमें संदेह नहीं कि नयी समीक्षा को इलियट ने अत्यंत व्यापक रूप से प्रभावित किया है, किंतु उसकी प्रक्रिया को रूपायित करने का श्रेय आई० ए० रिचर्ड्स को ही जाता है। उनमें मैथ्यू आर्नल्ड की गंभीरता, एक दार्शनिक की प्रौढ़ता, मनोविज्ञान के उभरते हुए महत्त्व के प्रति समयानुरूप जागरूकता, और कविता की गहरी पकड़ का अद्भुत समन्वय हुआ है। वे अर्थविज्ञान के माध्यम से समीक्षा के क्षेत्र में अवतरित हुए और उन्होंने भाषिक विश्लेषण की जिस पद्धति को जन्म दिया वह लगभग प्रत्येक नये समीक्षक की आधार-भूमि है। यही कारण है कि उन्हें नयी समीक्षा का जनक स्वीकार किया गया है।[3] स्वयं जे० सी० रैंसम के मंतव्यानुसार "नयी समीक्षा बहुत-कुछ उन्हीं से आरंभ हुई।"[4] ओलिवर एल्स्टन ने उन्हें नये समीक्षकों का 'दीक्षागुरु' (जॉन द बेप्टिस्ट) कहकर पुकारा है।[5]

रिचर्ड्स के पाँच प्रमुख समीक्षा-ग्रंथ हैं — 'द मीनिंग ऑफ़ मीनिंग' (१९२३), 'प्रिंसिपिल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' (१९२४), 'साइंस एंड पोइट्री' (१९२६), 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' (१९२९), तथा 'कोलरिज ऑन इमेजिनेशन' (१९३४)। इनमें से प्रथम पुस्तक सी० के० ऑडेन के सहयोग

---

१ इंट्रोडक्शन टु एज़रा पाँउंड, सेलेक्टेड पोइम्स, पृ० १०

२. द न्यू क्रिटिसिज़्म, पृ० १४०

३. अमेरिकन राइटिंग इन द ट्वेंटीएथ सेंचुरी, लेखक—विलार्ड थॉर्प, पृ० २९९

४. द न्यू क्रिटिसिज़्म, पृ० ३

५. ओपिनियंस ऑफ़ ओलिवर एल्स्टन, लेखक—वान वाइक ब्रुक्स, पृ० २४१

से लिखी गयी है तथा अन्य सारी कृतियाँ रिचर्ड्स के द्वारा स्वयं रचित हैं। ऑडेन तथा जेम्स वुड के सहलेखकत्व में उनका एक अन्य ग्रंथ 'द फ़ाउंडेशन ऑफ़ एस्थेटिक्स' (१९२२) भी प्रकाशित हुआ है। उक्त रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने कतिपय अन्य आलोचनात्मक ग्रंथों की भी रचना की है जिनके नाम हैं — 'द फिलॉसफी ऑफ़ रिहटॉरिक' (१९३६), 'स्पेकुलेटिव इंस्ट्रु-मेंट्स' (१९५५), 'कोलरिज'स माइनर पोइम्स' (१९६०), 'पोइट्रीज़ : देअर मीडिआ एंड एंड्स' (संपादक—ट्रेवॉर ईटन) (१९७४), 'बेयॉण्ड' (१९७४), एवं 'कॉम्प्लीमेंटरीज़' (संपादक — जॉन पाल रूसो) (१९७६)।

रिचर्ड्स की इन सारी पुस्तकों में आलोचनाविषयक अवधारणाओं का एक क्रमिक विकास देखने को मिलता है। उनकी पहली रचना 'द फ़ाउंडेशन ऑफ़ एस्थेटिक्स' में ही पाठक को उनकी आलोचना-दिशा का बोध होने लग जाता है। यहाँ पर उन्होंने अपनी समीक्षा के आधारभूत शास्त्र मनोविज्ञान की भूमि पर खड़े होकर सौंदर्य की परिभाषाओं का विवेचन किया है। इसी ग्रंथ में उन्होंने विभिन्न मनोवेगों के समंजन और संतुलन को कला का मूल प्रयोजन बताया है।

नयी समीक्षा के दिशा-निर्देशन की दृष्टि से रिचर्ड्स की उक्त सभी समीक्षा-कृतियों में 'द मीनिंग ऑफ़ मीनिंग' का एक विशिष्ट स्थान है। डॉ० नगेंद्र ने इसे नयी समीक्षा-पद्धति का आधार-ग्रंथ मानते हुए लिखा है कि इसी से सूत्र ग्रहण कर काव्यगत अर्थ-मीमांसा की अनेक सूक्ष्म-जटिल विधियों का विकास हुआ है।[1] भाषा के विविध रूपों के तार-तार विवेचन की जो चरम परिणति हमें 'द प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' में दृष्टिगोचर होती है वह यहीं से प्रारंभ हो जाती है। यहाँ उन्होंने दो प्रकार के शब्द-प्रयोग की चर्चा की है — १. शब्दों का प्रतीकात्मक (सिम्बॉलिक) प्रयोग, और २. शब्दों का भावात्मक (इमोटिव) प्रयोग। दोनों के बीच अंतर निरूपित करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्दों का प्रतीकात्मक प्रयोग मात्र 'वक्तव्य' है; अर्थात् अपने इस रूप में शब्द तथ्यों का लेखा-जोखा, आधार, संगठन तथा संप्रेषण प्रस्तुत करते हैं। शब्दों का भावात्मक प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक सीधा-सादा मसला है — इस प्रकार का शब्द-प्रयोग मनोवेगों तथा मनोवृत्तियों को अभिव्यक्त अथवा उत्तेजित करता है।[2] भाषा के इसी भावात्मक रूप को उजागर और प्रति-पादित करने के प्रयास में ही रिचर्ड्स ने साहित्यिक कृतियों का बड़ी ही

---

१. नयी समीक्षा : नये संदर्भ, पृ० ९
२. द मीनिंग ऑफ़ मीनिंग, पृ० १४९

बारीकी और गहराई से अध्ययन किया। ऐसा करके उन्होंने साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में अर्थविज्ञान, जो उनके अपने शब्दों में 'अर्थ-स्वरूप' (मीनिंग ऑफ़ मीनिंग) है, को उतारा और यहीं से अलग-अलग कविताओं के गंभीर विश्लेषण की वह परंपरा जन्मी जो नयी समीक्षा का मूलाधार है।

'प्रिंसिपिल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' में रिचर्ड्स ने भाषिक विश्लेषण की इसी पद्धति को और अधिक गहराया है। इस ग्रंथ में उन्होंने एक बार फिर भाषा के वैज्ञानिक प्रयोग और काव्यात्मक प्रयोग में अंतर की स्थापना की है। उनका कथन है कि भाषा के वैज्ञानिक प्रयोग में सफलता-प्राप्ति के लिए तथ्यों का सही होना ही, पर्याप्त नहीं है वरन् तथ्यों के बीच परस्पर तर्कसंगत संबंधों का होना भी अनिवार्य है। संबंधों में कहीं पर भी टकराव नहीं होना चाहिए। जबकि भाषा के भावात्मक प्रयोग में तार्किक नियोजन आवश्यक नहीं। यहाँ महत्त्व इस बात का है कि तथ्यों से संबद्ध मनोवृत्तियों की शृंखला का अपना उचित संगठन हो, उनका अपना भावात्मक अंतःसंबंध हो, और यह अंतःसंबंध तथ्यों के तर्कसंगत संबंधों पर निर्भर नहीं करता है।[1]

भाषा-विवेचन की यह प्रक्रिया 'साइंस एंड पोइट्री' में अपेक्षया अधिक घनीभूत हो गयी है। इस पुस्तक में उन्होंने 'द मीनिंग ऑफ़ मीनिंग' की भाँति एक बार पुनः दो प्रकार के भाषिक अर्थों की कल्पना की है— १. 'संकेतात्मक अर्थ' (रिफ़रेंशल मीनिंग), तथा २. 'भावात्मक अर्थ' (इमोटिव मीनिंग)। दोनों के बीच अंतर का निर्देश करते हुए उन्होंने कहा है कि भाषा के संकेतात्मक अर्थ का संबंध विज्ञान तथा अन्य शास्त्रों से है जबकि भावात्मक अर्थ का संबंध कविता से है। अपने संकेतात्मक अर्थ में भाषा तथ्यों या विचारों की नहीं, वरन् चेतना की किसी महत्त्वपूर्ण स्थिति की संप्रेषिका बनकर आती है। रिचर्ड्स का यह दृढ़ अभिमत है कि कविता के विषय वैज्ञानिक अथवा ऐतिहासिक तथ्य नहीं, बल्कि 'प्रतीयमान तथ्य' (सिउडो-स्टेटमेंट्स) हैं। 'प्रतीयमान तथ्यों' का सत्य बौद्धिकता में नहीं, अपितु रागात्मकता में निहित है; अर्थात् उक्त तथ्य यदि हमारी मनोवृत्तियों को रुचते हैं और उन्हें विरोधी जान पड़ते हैं तो वे सत्य हैं।

भावात्मक भाषा का यह विवेचन 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' में अपनी चरम सीमा का स्पर्श कर रहा है। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में रहकर रिचर्ड्स ने कुछ प्रयोग किये — उन्होंने अपनी कक्षाओं में विद्यार्थियों से रचनाकार के नाम और समय से असंपृक्त विभिन्न रचनाओं का विवेचन-विश्लेपण कराया। इस

1. प्रिंसिपिल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म, पृ० २६८

प्रक्रिया से जो परिणाम उनके समक्ष आये उन्हीं को प्रस्तुत पुस्तक में अवतरित किया गया है। यदि इस ग्रंथ को नयी समीक्षा की दृष्टि कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

वस्तुतः रिचर्ड्स की ये ही वे आलोचनात्मक कृतियाँ हैं जिनका सीधा संबंध नयी समीक्षा से है। इनके माध्यम से ही उन्होंने नये आलोचक को विभिन्न साहित्यिक रचनाओं के गंभीर विवेचन, विश्लेषण और मूल्यांकन की प्रेरणा दी, और इनके माध्यम से ही उन्होंने उसे कविता की भाषा पर ध्यान केंद्रित करने का मार्ग दिखाया। एस० ई० हाइमन ने रिचर्ड्स के प्रभाव का लगभग सभी नये समीक्षकों पर, पृथक्-पृथक् रूप में, स्पष्ट उल्लेख किया है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इलियट और रिचर्ड्स दोनों के ही समीक्षा-सिद्धांत नयी आलोचना पर हावी हो गये हैं, किंतु इसका अर्थ यह कथमपि नहीं है कि दोनों की विवेचन-विश्लेषण और मूल्यांकन की प्रक्रिया में कोई अंतर नहीं है। इन दोनों की समीक्षा-पद्धति में वही भेद है जो एक सर्जक-समीक्षक और अध्यापक-समीक्षक की समीक्षा में होना चाहिए—विवेचन और विश्लेषण में इलियट का सर्जक उतने गहरे में नहीं पैठ सका है जिस गहराई में रिचर्ड्स का अध्यापक प्रवेश कर गया है; मूल्यांकन में भी जहाँ इलियट ने परंपरा का अवलंब लिया है वहाँ रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान का। निष्कर्ष यह है कि दोनों की समालोचन-दृष्टियाँ पर्याप्त भिन्न हैं।

## (आ) प्रमुख समीक्षक

इलियट से परंपरा और रिचर्ड्स से कविता के गंभीर अध्ययन की दृष्टियाँ ग्रहण कर बीसवीं सदी के चतुर्थ और पंचम दशक में नयी समीक्षा का जो आंदोलन इंग्लैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका, विशेष रूप से अमेरिका के दक्षिणी राज्यों, में एक अद्भुत शक्ति लेकर उभरा उसमें अनेक चेहरे सामने आये, किंतु जो चेहरे अपने निश्चित वैशिष्ट्य के कारण साहित्य-जगत् पर अपनी अमिट छाप छोड़ने में सक्षम हो सके हैं उनके नाम हैं—जॉन क्रो रैंसम, एफ़० आर० लीविस, केनेथ बर्क, एलेन टेट, ईवोर विंटर्स, आर० पी० ब्लैकमर, रॉबर्ट पेन वारेन, क्लिअंथ ब्रुक्स तथा विलियम एंपसन। इनके द्वारा निर्धारित कविता के विभिन्न मानदंडों का विवेचन करने से पूर्व इनकी आलोचनात्मक कृतियों का संक्षिप्त विवेचन अनिवार्य है।

---

१. द आर्म्ड विज़न, पृ० ३१५-१८

**जॉन क्रो रैंसम** (१८८८-१९७४) : अमेरिकावासी रैंसम नयी समीक्षा के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं। जैसाकि पहले ही लिखा जा चुका है, विवेच्य समीक्षा-पद्धति के नामकरण-संस्कार के कर्त्ता ये ही हैं। इनके महत्त्व का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि विलार्ड थॉर्प ने इन्हें 'नव्यालोचन का प्रेरक' (एपॉसिल) कहकर पुकारा है।[1] इसमें संदेह नहीं कि नयी समीक्षा को वास्तविक दिशा रैंसम ने ही प्रदान की। इन्होंने ही एलेन टेट के सहयोग से १९२२ ई० में 'द फ़्युजिटिव' पत्रिका की स्थापना की जिसमें पहली बार नयी समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ उभरकर सामने आयीं। यद्यपि यह पत्रिका १९२२ ई० से १९२५ ई० तक ही चली तथापि इसका प्रकाशन नयी समीक्षा के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। 'केन्यन रिव्यू'-जैसी क्रांतिविधायिनी पत्रिका के प्रतिष्ठापक भी ये ही हैं। यह पत्रिका सर्वप्रथम १९३९ ई० में प्रकाश में आयी और तब से लेकर यह अनवरत भाव से समीक्षा के एक विशिष्ट अंग का संपोषण करती रही है। रैंसम ने अपनी पुस्तक 'द केन्यन क्रिटिक्स' (प्रकाशन-वर्ष १९५१ ई०) का संपादन इसी पत्रिका के विभिन्न अंकों से लेख लेकर किया है।

आलोचना-जगत् में रैंसम की जिन दो समीक्षात्मक कृतियों की सर्वाधिक चर्चा हुई है वे हैं -- 'द वर्ल्ड्'स बॉडी' (१९३८) तथा 'द न्यू क्रिटिसिज़्म' (१९४१)। 'द वर्ल्ड्'स बॉडी' का संबंध, वाल्टर फ़ुलर टेलर के शब्दों में, कविता के रूप-तत्त्व, बिंब-योजना तथा संरचना से है।[2] इसके उद्देश्य का उल्लेख करते हुए स्वयं रैंसम ने पुस्तक की भूमिका में कहा है कि इस ग्रंथ में संगृहीत लेख काव्यात्मक प्रभावों को समझने तथा उन्हें परिभाषित करने के लिए हैं। दूसरे शब्दों में, ये लेख काव्य-सिद्धांत का निरूपण करते हैं।[3] वस्तुत: है भी ऐसा ही; क्योंकि पुस्तक के लेख या तो कविता के रूप को उजागर करते हैं या फिर उनका लक्ष्य कविता की आलोचना के लिए मार्ग प्रशस्त करना है।

विज्ञान जिस प्रकार दिनोंदिन मानव-जीवन पर हावी होता जा रहा है, उसे देखकर केवल रैंसम ही नहीं, वरन् सारे नये समीक्षक चौकन्ने हो उठे थे। यही कारण है कि रैंसम ने 'द वर्ल्ड'स बॉडी' में, क्रोचे की ही भाँति, कविता को ज्ञान-रूप मानकर विज्ञान पर उसकी वरीयता की घोषणा करते हुए लिखा कि

---

1. अमेरिकन राइटिंग इन द ट्वेंटीएथ सेंचुरी, पृ० ३००
२. द स्टोरी ऑफ़ अमेरिकन लेटर्स, पृ० ४४१
३. द वर्ल्ड्'स बॉडी, भूमिका-भाग, पृ० ७

विज्ञान मानव को भौतिक सुविधाएँ प्रदान कर उसकी मात्र पाशविक वृत्तियों का तोष करता है जबकि कविता उसकी अंत:-बाह्य सभी वृत्तियों को संतुष्ट कर उसे पूर्ण बनाती है। रैंसम ने कला और कविता को, केवल विज्ञान से ही नहीं, धर्म से भी अधिक महान् माना है, और कहा है कि धर्म अथवा ईश्वर का भी तब तक कोई महत्त्व नहीं जब तक कविता धार्मिक सिद्धांतों को वाणी प्रदान कर उन्हें जीवंतता प्रदान नहीं करती है।

शुद्ध कविता के रूप को निर्धारित करते हुए उन्होंने लिखा कि जो कविता नैतिक, राजनैतिक, धार्मिक अथवा सामाजिक मूल्यों से परे हो वही शुद्ध है। शुद्ध कविता का प्रयोजन रचना-भर है, आप इससे किसी नैतिकता का निष्कर्षण नहीं कर सकते। इस प्रकार की कविता की रचना उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रांसीसी कवियों द्वारा हुई और आजकल अनेक अँग्रेज़ तथा अमरीकी कवियों द्वारा हो रही है।[1]

इसी ग्रंथ में रैंसम का बहुचर्चित निबंध 'क्रिटिसिज़म, इंक०' संकलित है। इस निबंध में उन्होंने आलोचकों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। प्रथम तो अपनी रचना का समीक्षक स्वयं कलाकार है। उसे कला की अच्छी समझ होनी चाहिए, किंतु उसके साथ कठिनाई यह है कि उसकी यह समझ भाषागत न होकर सहजानुभूतिजन्य होती है और इसीलिए वह अपने कला-सिद्धांत की व्याख्या भली प्रकार नहीं कर सकता। यह सच है कि साहित्यकारों को चूँकि भाषा पर अच्छा अधिकार होता है, इसीलिए वे अपनी कला के, अन्य कलाकारों की अपेक्षा, अच्छे आलोचक होते हैं। रैंसम का तो यहाँ तक कहना है कि कविता के सर्वश्रेष्ठ समीक्षक कवि ही होते हैं। किंतु उन्होंने कलाकार के द्वारा कलाकृति का विवेचन उसी सीमा तक महत्त्वपूर्ण माना है जिस सीमा तक कलाकार तकनीकी प्रभावों को उद्घाटित करता है; क्योंकि उसे इन प्रभावों का बड़ा सूक्ष्म ज्ञान होता है, और चाहे, तो इनके विषय में वह अधिकारपूर्ण ढंग से बोल सकता है।

दूसरे प्रकार का समीक्षक दार्शनिक है, किंतु यह दार्शनिक-समीक्षक, रैंसम के अपने ही शब्दों में, जंगल को तो देखने में सक्षम है, किंतु वृक्षों को नहीं।[2] तात्पर्य यह कि इस प्रकार के समीक्षक का सिद्धांत बड़ा सामान्य होता है और विशिष्ट कलाकृतियों से उसका गहरा परिचय नहीं होता है, विशेष रूप से, उनके तकनीकी प्रभावों की उसे अच्छी जानकारी नहीं होती

१. द वर्ल्ड्'स बॉडी, पृ० ५६
२. वही, पृ० ३२८

है। दूसरे शब्दों में, दार्शनिक-समीक्षक के 'सामान्यीकृत' सिद्धांत 'विशिष्ट' कलाकृतियों के विवेचन में पूर्ण समर्थ नहीं होते।

समीक्षकों का तीसरा प्रकार विभिन्न विश्वविद्यालयों में नियुक्त साहित्य के उस प्राध्यापक के रूप में देखने को मिलता है जिसकी सामान्य संज्ञा प्रोफ़ेसर है। इस प्रोफ़ेसर-समीक्षक को आलोचनात्मक प्रक्रिया की अच्छी पहचान होनी चाहिए। एक आलोचक के रूप में वह दार्शनिक और कवि से हीन नहीं है, किंतु इस आलोचक की भी अपनी एक सीमा है, और वह यह कि विद्वान् होते हुए भी उसमें विवेचन-क्षमता का अभाव होता है। इसीलिए यह जीवन-भर साहित्य के विभिन्न विवरणों का संचयन कर सकता है, किंतु साहित्यिक मूल्यांकन की ओर वह कम ही प्रवृत्त होता है। इतना होते हुए भी रैंसम को साहित्य-समीक्षा के विवेकपूर्ण प्रतिमानों की स्थापना की आशा इसी प्रोफ़ेसर-समीक्षक से ही है। अपनी इस आशा की अभिव्यक्ति उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में की है—"आलोचना को और अधिक वैज्ञानिक अर्थात् यथातथ्य और सुव्यवस्थित होना है। इसका अर्थ यह कि इसे विद्वान् व्यक्तियों के सामूहिक और अनवरत प्रयासों के द्वारा आगे बढ़ाया जाना चाहिए—इसका पुनः अर्थ यह हुआ कि आलोचना का उपयुक्त स्थान विश्वविद्यालय हैं।"[१]

अपने इसी निबंध में रैंसम ने कविता को एक 'तत्त्वमीमांसीय' (ऑन्टोलॉजिकल) अथवा 'आध्यात्मिक' (मेटाफिज़िकल) प्रयास माना है। उनका स्पष्ट कथन है कि सर्जना के क्षणों में कवि को कुछ अध्यात्मचिन्तक-जैसी ही मानसिक यंत्रणा भुगतनी पड़ती है।[२]

रैंसम ने अपने कविताविषयक आधारभूत सिद्धांत 'शब्द-विधान' (टेक्स्चर) के रूप को भी इस निबंध में उद्घाटित किया है। उनके मंतव्यानुसार 'अर्थ-विधान' (स्ट्रक्चर) और 'शब्द-विधान' के संघटन से ही कविता का जन्म होता है। 'अर्थ-विधान' के परिप्रेक्ष्य में कविता के प्राणभूत इस 'शब्द-विधान' का विस्तृत विवेचन, विश्लेषण और मूल्यांकन अगले अध्याय में किया जायेगा।

रैंसम की दूसरी महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कृति 'द न्यू क्रिटिसिज़्म' है। विवेच्य समीक्षा की संज्ञा इसी पुस्तक की भूमिका की देन है। इसमें चार लेख हैं—आई० ए० रिचर्ड्स: द साइकॉलॉजिकल क्रिटिक, टी० एस० इलियट: द हिस्टॉरिकल क्रिटिक, ईवोर विंटर्स: द लॉजिकल क्रिटिक, तथा वांटेड: एन ऑन्टोलॉजिकल क्रिटिक। प्रथम लेख में रैंसम ने रिचर्ड्स को

---

१. द वर्ल्ड्'स बॉडी, पृ० ३२९

२. वही, पृ० ३४७-४८

नयी समीक्षा का जन्मदाता मानते हुए उनकी समीक्षा-पद्धति का विवेचन किया है। द्वितीय लेख के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि रैंसम इलियट को एक ऐतिहासिक समीक्षक मानते हैं, एक ऐसा ऐतिहासिक समीक्षक जो कवि को परंपरा में रखकर उसके मूल्य को आँकता है, किंतु जो उस कवि की रचना के विवेचन-विश्लेषण में असफल है। १९२८ ई० के बाद इलियट का परंपरावाद उनके धर्म और साथ-ही-साथ उनकी आलोचना पर लगातार इस प्रकार हावी होता चला गया कि वे, आगे न देखकर, निरंतर पीछे की ओर ही देखते रहे हैं। तृतीय लेख में रैंसम ने विंटर्स को अर्थ-विधान का समीक्षक घोषित करते हुए उनमें शब्द-विधान की समीक्षा का एकदम राहित्य माना है, और इसीलिए रैंसम के विचार से वे मूलतः गद्य के समीक्षक हैं — कविता का मूल्यांकन उनके वश की बात नहीं है। विंटर्स की नैतिकता को रैंसम ने उनकी समीक्षा का एक अन्य प्रधान अवगुण माना है।

'द वर्ल्ड्'स बॉडी' की ही भाँति, प्रस्तुत पुस्तक के चतुर्थ लेख में रैंसम ने कविता को एक बार फिर तत्त्वमीमांसीय स्वीकार किया। उनका कथन है कि वैज्ञानिक संभाषण से निरपेक्ष, कविता की एक स्वतंत्र सत्ता है — लौकिक ज्ञान-विज्ञान से इसका कोई संबंध नहीं है, इसका ध्येय तो उस अपूर्व संसार की खोज करना है जो दृश्यमान संसार की अपेक्षा अधिक सघन, अधिक अगम्य है।[1] रैंसम के मत में इस प्रकार की तत्त्वमीमांसीय किंवा आध्यात्मिक कविता की व्याख्या तत्त्वमीमांसक समीक्षक ही कर सकता है। 'द न्यू क्रिटि-सिज़्म' का यह चतुर्थ लेख इसी प्रकार के समीक्षक की अनवरत खोज का ही परिणाम है। यह समीक्षक कविता को कविता के ही रूप में देखता है—कविता का रचयिता कौन है, वह किस सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश में रची गयी, इन सारी बातों से उसे कुछ लेना-देना नहीं होता है।

इसी लेख में रैंसम ने विज्ञान की भाषा और कविता की भाषा के अंतर को भी बड़ी गहराई से निरूपित किया है। उनकी मान्यता है कि विज्ञान में प्रयोज्यमान संकेत मात्र संकेत अथवा "प्रतीक" हैं जिनका, एक निश्चित पदार्थ-द्योतन से व्यतिरिक्त, अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। किंतु कला-जगत् में व्यवहृत संकेत "प्रतिमा-रूप" अथवा बिंब-रूप हैं — संकेतों के रूप में वे पदार्थ का द्योतन तो करते ही हैं, साथ ही प्रतिमा-रूप होने के कारण वे पदार्थों का सादृश्य-विधान अथवा अनुकरण भी करते हैं। इस प्रकार विज्ञान का संबंध मात्र विशुद्ध प्रतीकों से है जबकि कला का संबंध, समग्रतः न सही,

1. द न्यू क्रिटिसिज़्म, पृ० २८१

किंतु अनिवार्यतः प्रतिमाविधायक संकेतों से है। प्रकारांतर से, विज्ञान-जगत् में प्रयुक्त शब्दों के अपने निश्चित अर्थ होते हैं और अर्थ के इसी नैश्चित्य में ही उनकी सार्थकता है जबकि कला या कविता के क्षेत्र में व्यवहार्यमाण शब्दों के अर्थों का परिसीमन संभव ही नहीं; क्योंकि यहाँ तो शब्द प्रतिमा-रूप होते हैं और यह प्रतिमा, रैंसम की शब्दावली में, विशेष की होती है तथा यह विशेष सदैव अपरिभाषेय होता है।

'द न्यू क्रिटिसिज़्म' में लेखक की दृष्टि पुनः अर्थ-विधान तथा शब्द-विधान पर जम गयी है और यह हमारे अगले अध्याय का विषय है।

**फ़्रैंक रेमंड लीविस** (१८९५-१९७८) : इंग्लैंड में जन्मे डॉ० एफ़० आर० लीविस अपने विद्रोही स्वभाव और नैतिकतावादी दृष्टिकोण के कारण नयी समीक्षा के दायरे से एकदम छिटककर अलग जा पड़ते हैं, किंतु कृति के सूक्ष्म पर्यवेक्षक होने के नाते उन्हें नये समीक्षकों से विलगाना उचित न होगा। उन्होंने एल० सी० नाइट्स के सहयोग से १९३२ ई० में अत्यंत महत्त्वपूर्ण ब्रिटिश आलोचनात्मक पत्रिका 'स्क्रुटिनी' की स्थापना की और इस पत्रिका के वे तब तक संपादक रहे जब तक १९५३ ई० में इसका प्रकाशन बंद नहीं हो गया। उनके द्वारा रचित समीक्षा-ग्रंथ हैं — 'मास सिविलिज़ेशन एंड माइनॉरिटी कल्चर' (१९३०), 'न्यू बिअरिंग्स इन इंग्लिश पोइट्री : ए स्टडी ऑफ़ द कॉन्टेंपोरेरी सिचुएशन' (१९३२), 'फ़ॉर कॉन्टीनुइटी' (१९३३), 'कल्चर एंड इनवाइरॉनमेंट : द ट्रेनिंग ऑफ़ क्रिटिकल अवेयरनेस' (डेनीस थॉम्पसन के साथ) (१९३३), 'रिवैलुएशन : ट्रेडिशन एंड डवलपमेंट इन इंग्लिश पोइट्री' (१९३६), 'एजूकेशन एंड द यूनिवर्सिटी : ए स्केच फ़ॉर एन "इंग्लिश स्कूल"' (१९४३), 'द ग्रेट ट्रेडिशन : जॉर्ज इलियट, हेनरी जेम्स, एंड जोसेफ कॉनराड' (१९४८), 'द कॉमन परसूट' (१९५२), 'डी० एच० लारेंस : नॉवलिस्ट' (१९५५), 'स्क्रुटिनी : ए रिट्रॉस्पेक्ट' (१९६३), 'एन्ना करेनिना एंड ऑदर एसेज़' (१९६७), तथा 'लेक्चर्स इन अमेरिका' (पत्नी क्वीनी डॉरोथी के साथ) (१९६९)। 'इंग्लिश लिटरेचर इन आउर टाइम्स एंड द यूनिवर्सिटी' (१९६९), 'डिकिन्स द नॉवलिस्ट' (पत्नी क्वीनी डॉरोथी के साथ) (१९७०), 'लेटर्स इन क्रिटिसिज़्म' (१९७४), 'द लिविंग प्रिंसिपल : "इंग्लिश" एज़ ए डिस्सिपलिन ऑफ़ थॉट' (१९७५) और 'थॉट्स, वर्ड्स, एंड क्रिएटिविटी : आर्ट एंड थॉट इन लारेंस' (१९७६)। इन पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने समीक्षात्मक निबंधों के दो संकलन भी संपादित किये हैं — 'टुवर्ड्स स्टैंडर्ड्स ऑफ़ क्रिटिसिज़्म : सेलेक्शंस फ़्रॉम द कैलेंडर ऑफ़ मॉडर्न लेटर्स, १९२५-२७' (१९३३), तथा 'डिटर्मिनेशंस' (१९३४)।

जिस प्रकार अन्य अनेक नये समीक्षकों ने कविता के विवेचन-विश्लेषण के लिए अलग-अलग विभिन्न मानदंडों की स्थापना की है उस प्रकार यद्यपि लीविस ने किसी भी मानदंड की प्रतिष्ठा नहीं की तथापि नये समीक्षकों की भाँति ही आलोचना करते समय उनकी दृष्टि निरंतर कृति पर केंद्रित रहती है। आलोचना के उद्देश्य का निरूपण करते हुए भी उन्होंने आलोचक से निरंतर कृति से संपृक्त रहने पर ही बल दिया है।[1]

लीविस की गंभीर पाठालोचन की पद्धति पर आई० ए० रिचर्ड्स और टी० एस० इलियट की आलोचना-पद्धति का प्रभूत प्रभाव है—'न्यू बिअरिंग्स इन इंग्लिश पोइट्री' की समीक्षा-प्रक्रिया के लिए वे स्पष्टतः रिचर्ड्स के ऋणी हैं; 'रिवैलुएशन' में उन्होंने, इलियट की ही भाँति, प्रौढ़ काव्य की उस परंपरा को स्थापित करने का प्रयास किया है जो सत्रहवीं शताब्दी में आरंभ होती है और रोमानी तथा विक्टोरियन युगों में तिरोहित हो जाती है, किंतु हॉपकिंस, एज़रा पाउंड एवं टी० एस० इलियट के द्वारा जिसे पुनर्जीवित किया जाता है। यही कारण है कि उक्त रचनाकार 'न्यू बिअरिंग्स इन इंग्लिश पोइट्री' के प्रमुख विवेच्य विषय हैं। हाँ, इतना अंतर अवश्य है कि जहाँ इलियट और रिचर्ड्स का पाठालोचन उनके पूर्वनिर्धारित सिद्धांतों का अनुसरण करता है वहाँ लीविस का प्रशंसात्मक अथवा अभिशंसात्मक होता है। परंपरा लीविस की आलोचना का मूलाधार है। वे इसके अधिवक्ता हैं—"विभिन्न कवियों पर विचार करते समय आलोचक, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में, परंपरा पर विचार कर रहा होता है क्योंकि कवि जीवित ही परंपरा में रहते हैं और परंपरा उनमें जीवित रहती है।"[2]

नैतिकता उनकी आलोचना का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष है। उन्हें वही रचना अपनी ओर आकृष्ट करती है जिसमें मानव-जीवन के लिए कोई संदेश निहित होता है। 'रिवैलुएशन' में विभिन्न कवियों के परीक्षण का निकष उनकी यह नैतिकता ही रही है।

केनेथ बर्क (१८९७- ): अँग्रेज़ी साहित्य के ख्यातिलब्ध अमेरिकी समीक्षक केनेथ बर्क को नयी समीक्षा का 'नामकर्त्ता' माना गया है।[3] उनकी प्रमुख समीक्षा-कृतियाँ हैं—'कॉउंटर-स्टेटमेंट' (१९३१), 'पर्मानेंस एंड चेंज:

---

१. (अ) रिवैलुएशन, भूमिका-भाग, पृ० १०
   (आ) द कॉमन परसूट, पृ० २२४
२. रिवैलुएशन, भूमिका-भाग, पृ० १०
३. अमेरिकन राइटिंग इन द ट्वैंटीएथ सेंचरी, पृ० २९९

एन एनाटॉमी ऑफ़ पर्पज़' (१९३५), 'एटीट्यूड्स टुवर्ड्स हिस्ट्री' (१९३७), 'द फिलॉसफी ऑफ़ लिटरेरी फ़ॉर्म : स्टडीज़ इन सिम्बॉलिक ऐक्शन' (१९४१), 'ए ग्रामर ऑफ़ मोटिव्स' (१९४५), 'ए रिहटॉरिक ऑफ़ मोटिव्स' (१९५०), तथा 'लैंग्वेज ऐज़ सिम्बॉलिक ऐक्शन : एसेज़ ऑन लाइफ़, लिटरेचर, एंड मेथड' (१९६६)। इन ग्रंथों के अतिरिक्त संगीत, कला, इतिहास, उपन्यास, कविता और आलोचना पर उनकी अनेक समीक्षाएँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं। उक्त ग्रंथों में भी तीन ही ऐसी रचनाएँ हैं जो नयी समीक्षा की दृष्टि से विशेष महत्त्व की हैं। इनके नाम हैं—'कॉउंटर-स्टेटमेंट', 'एटीट्यूड्स टुवर्ड्स हिस्ट्री' और 'द फिलॉसफी ऑफ़ लिटरेरी फ़ॉर्म : स्टडीज़ इन सिम्बॉलिक ऐक्शन'। 'लैंग्वेज ऐज़ सिम्बॉलिक ऐक्शन' तो समय-समय पर लिखे गये निबंधों का संकलन है, इसकी रचना योजनाबद्ध रूप से नहीं हुई है।

'कॉउंटर-स्टेटमेंट' के लेखों में बर्क के उन समीक्षा-सिद्धांतों की स्थापना देखने को मिलती है जिनका प्रतिफलन उनकी अगली रचनाओं में हुआ है; समीक्षा की जिस पद्धति का उल्लेख उन्होंने यहाँ किया है, आगे चलकर काव्य-विवेचन के संदर्भ में उसी को उन्होंने अंगीकार किया है। यही वह ग्रंथ है जिसमें बर्क ने दार्शनिक धरातल पर खड़े होकर अपने बहुचर्चित रूप-तत्त्व (फ़ॉर्म) के सिद्धांत पर बड़ी गंभीरता से विचार किया है। शेक्सपियर की प्रसिद्ध त्रासदी 'हेमलेट' को अपने पाठालोचन का आधार बनाकर उन्होंने बड़े ही निर्भ्रांत शब्दों में घोषणा की कि उक्त नाटक का आधारभूत मनोविज्ञान नायक का मनोविज्ञान न होकर, प्रेक्षक का मनोविज्ञान है। और इस दृष्टि से रूप-तत्त्व प्रेक्षक का मनोविज्ञान है। अथवा एक अन्य दृष्टिकोण से देखने पर, रूप-तत्त्व प्रेक्षक के मानस की बुभुक्षा की सृष्टि और उस बुभुक्षा के उपयुक्त शमन का ही अपराभिधान है।[1] इसी ग्रंथ में अन्यत्र उन्होंने अपनी इसी स्थापना को फिर दोहराते हुए कहा है—"साहित्य में रूप-तत्त्व का अर्थ है, आकांक्षाओं का उद्‌बुद्धीकरण एवं उनकी संतृप्ति। कोई भी रचना रूप-तत्त्व की दृष्टि से वहीं तक सार्थक है जहाँ तक उसका एक अंश दूसरे अंश से कुछ इस प्रकार के घटना-क्रम से नँधा हो जिससे पाठक को तोष हो सके।"[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि बर्क ने रूप-तत्त्व को प्रमाता के मनोविज्ञान का पर्याय माना है। उनका यह रूप-तत्त्व वास्तव में तर्कसंगत रचना-विधान का ही दूसरा नाम है। रूप-तत्त्व के स्वरूप-निर्धारण के उपरांत

१. कॉउंटर-स्टेटमेंट, पृ० ३१
२. वही, पृ० १२४

बर्क ने उसे पाँच वर्गों में विभक्त कर विभिन्न वर्गों के अंतःसंबंध, विरोध आदि का विशद विवेचन किया है।

बर्क के सर्वाधिक प्रसिद्ध सिद्धांत 'प्रतीक-व्यापार' (सिम्बॉलिक ऐक्शन) के भी बीज इस पुस्तक में देखने को मिल जाते हैं। प्रतीक को उन्होंने अनुभूति-शृंखला का शाब्दिक प्रतिरूप माना है।[1] उनके विचार से यही प्रतीक तब बहुत अधिक प्रभविष्णु हो उठता है जब कलाकार और प्रमाता की अनुभूति-शृंखलाओं में तादात्म्य हो जाता है।[2] प्रतीक किस-किस रूप में अपने व्यापार को निष्पन्न करता है इसकी सविस्तर चर्चा विवेच्य ग्रंथ के 'लेक्सिकन रिहटॉरिके' निबंध में हुई है। इसलिए डॉ० जगदीशचंद्र जैन का यह कथन ठीक नहीं कि "सांकेतिक प्रक्रिया के सिद्धांत का उल्लेख यहाँ (काउंटर-स्टेटमेंट' में) नहीं।"[3]

'एटीट्यूड्स टुवर्ड्स हिस्ट्री' मुख्यतः प्रतीक-व्यापार के विवेचन से संबद्ध है। बर्क के इस सिद्धांत पर अगले अध्याय में प्रकाश डाला जायेगा।

'द फिलॉसफी ऑफ़ लिटरेरी फ़ॉर्म : स्टडीज़ इन सिम्बॉलिक ऐक्शन' में संकलित निबंधों के उद्देश्य की चर्चा करते हुए बर्क ने स्वयं लिखा है कि इन निबंधों का मुख्य लक्ष्य भाषावैज्ञानिक, प्रतीकात्मक, अथवा साहित्यिक व्यापार के स्वरूप पर विचार-विमर्श तथा इस व्यापार के अन्वेषण या परिभाषा के सही तरीक़ों की खोज है।[4] अपने इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए उन्होंने यहाँ एक बार पुनः प्रतीक को अपने चिंतन-मनन का आधार बनाया है। कविता के विषय में उनकी निश्चित धारणा है कि कविता एक "प्रतीकात्मक व्यापार" है और अपने इसी रूप में कविता पर विचार किया जाना चाहिए।[5] कविता में प्रतीक के महत्त्व की घोषणा करते हुए उन्होंने प्रतीक को एक व्यापक अर्थ प्रदान किया है।

कला के प्रयोजन के विषय में बर्क का मत है कि कला राजनीतिक अथवा सामाजिक सुधार का साधन नहीं है, वरन् उसके अस्तित्व की सार्थकता मानव की एक बुभुक्षा और उसकी तृप्ति में ही निहित है।[6] अन्यत्र उन्होंने

---

१. कॉउंटर-स्टेटमेंट, पृ० १५२
२. वही, पृ० १५३
३. पाश्चात्य समीक्षा-दर्शन, पृ० ४४७
४. द फिलॉसफी ऑफ़ लिटरेरी फ़ॉर्म, प्राक्कथन, पृ० १७
५. वही, पृ० ८
६. कॉउंटर-स्टेटमेंट, पृ० १६

नैतिकता को कलाकृति का अनिवार्य तत्त्व माना है।[1]

बर्क की रुचि भी, अन्य नये समीक्षकों की ही भाँति, कविता में ही है। वे नहीं चाहते कि कवि के विषय में उन्हें कुछ ज्ञात हो, वे तो कविता के आदि, मध्य और अवसान को ही विमर्शित करना चाहते हैं।[2]

बर्क की स्पष्ट धारणा है कि पदान्वय (पैराफ्रेज़) के माध्यम से काव्यार्थ-ग्रहण संभव नहीं है। उनका कथन है कि अर्थविज्ञान महज़ एक धोखा है।[3]

बर्क की समीक्षा-पद्धति को समझने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उसमें मनोविज्ञान, मार्क्सवाद, फ़्रायडवाद, अर्थविज्ञान, अध्यात्मशास्त्र, नृविज्ञान, भाषाशास्त्र, समाजशास्त्र आदि ज्ञान-विज्ञानों का ऐसा समाहार है कि जिसके बीच में फँसकर साहित्यिक कृति का अस्तित्व ही विलीन होता जान पड़ता है। संभवतः इसीलिए शेल्डन नॉर्मन ग्रेब्स्टाइन ने बर्क को बहुलवादी समीक्षक की संज्ञा दी है।[4] रेने वेलेक का तो यहाँ तक कहना है कि बर्क एक समीक्षक न होकर दुर्बोध दर्शन के प्रवक्ता हैं।[5] किंतु वेलेक का यह अतिवादी दृष्टिकोण है। बर्क मूलतः एक गंभीर समीक्षक हैं जिन्हें समझने के लिए पाठक को न केवल समाहितचित्त होना पड़ेगा, वरन् उसे अपने मन से समीक्षक के कर्त्तव्य कर्म से संबद्ध पूर्वनिर्धारित अवधारणाओं को भी निकालना होगा। वेन सी० बूथ के विचार से तो वे "असंदिग्ध रूप से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जीवित समीक्षक हैं।" वेलेक और बूथ के विवाद में न पड़कर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि नयी समीक्षा में बर्क का अपना एक विशिष्ट स्थान है और उन्होंने अनेक नये समीक्षकों पर अपनी समीक्षा-प्रक्रिया की गहरी छाप छोड़ी है।

**एलेन टेट (१८९९-१९७९)** : रैंसम के शिष्य ऐलेन टेट आलोचक तथा कवि, दोनों ही रूपों में उभरे हैं। यहाँ पर उनका समीक्षक-रूप ही विचार्य है। सर्वप्रथम वे हमारे समक्ष 'फ़्युजिटिव' (१९२२-१९२५) पत्रिका के संपादक के रूप में आते हैं। इसके उपरांत उन्होंने जिन महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं का संपादन किया उनके नाम हैं—'हाउंड एंड हॉर्न' (१९३१-१९३४), 'केन्यन रिव्यू' (१९३९-१९४२), तथा 'सिवानी रिव्यू' (१९४४-१९४६)।

---

१. द 'फिलॉसफी ऑफ़ लिटरेरी फ़ॉर्म', पृ० ३१४

२. द फिलॉसफी ऑफ़ लिटरेरी फ़ॉर्म, द्वितीय संस्करण का प्राक्कथन, पृ० १०

३. द फिलॉसफी ऑफ़ लिटरेरी फ़ॉर्म, पृ० १५९

४. पर्सपेक्टिव्स इन कॉन्टेंपॅरेरी क्रिटिसिज्म, पृ० ७९

५ कॉन्सेप्ट्स ऑफ़ क्रिटिसिज्म, पृ० ३२५

उनके आलोचना-ग्रंथ हैं — 'रिऐक्शनरी एसेज़ ऑन पोइट्री एंड आइडिआज़' (१९३६), 'रीज़न इन मैडनेस : क्रिटिकल एसेज़' (१९४१), 'इनविटेशन टु लर्निंग' (हंटिंग्टन केर्न्स और मार्क्स वान डोरेन के साथ) (१९४१), 'ऑन द लिमिट्स ऑफ़ पोइट्री : सेलेक्टेड एसेज़, १९२८-१९४८' (१९४८), 'द होवरिंग फ़्लाई एंड ऑदर ऐसेज़' (१९४९), 'द फ़ॉर्लर्न डेमन : डाइडेक्टिक एंड क्रिटिकल एसेज़' (१९५३), 'द मैन ऑफ़ लेटर्स इन द मॉडर्न वर्ल्ड : सेलेक्टेड एसेज़, १९२८-१९५५' (१९५५), 'कलेक्टेड एसेज़' (१९५९), 'मॉडर्न लिटरेचर एंड द लॉज़्ट ट्रेवलर' (१९६९), 'एसेज़ ऑफ़ फ़ोर डिकेड्स' (१९६९), 'द ट्रांसलेशन ऑफ़ पोइट्री' (१९७२), 'द लिटरेरी कॉरेस्पॉन्डेंस ऑफ़ डोनाल्ड डेविडसन एंड एलेन टेट' (संपादक—जॉन टी० फ़ेन और थॉमस डी० यंग) (१९७४), तथा 'मेमॉइर्स एंड ओपिनियंस १९२६-१९७४' (१९७५)। इन पुस्तकों में अनेक निबंध ऐसे हैं जो टेट की एकाधिक पुस्तकों में प्रकाशित हुए हैं।

टेट ने अपने को समीक्षक न मानकर निबंधकार माना है, किंतु यह उनका दृष्टिकोण है। साहित्य-जगत् में वे अमरीका के एक उत्कृष्ट समीक्षक के रूप में ही प्रतिष्ठित हुए हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि कवि होने के कारण टेट की समीक्षा में सर्जना का अभाव नहीं है। उन्होंने 'तनाव' (टेंशन) को सत्काव्य का निकष स्वीकार किया है।[1] उनके इस सिद्धांत के मूलाधार तर्कशास्त्र में व्यवहार्यमाण दो शब्द, 'बहिस्तनाव' (एक्सटेंशन) तथा 'अंतस्तनाव' (इंटेंशन), हैं। इन दोनों शब्दों के उपसर्गों को हटा देने से ही टेट का 'तनाव' (टेंशन) शब्द निष्पन्न हुआ है। तर्कशास्त्र में इन दोनों शब्दों का जो भी अर्थ हो, किंतु टेट के यहाँ 'बहिस्तनाव' से अभिप्राय है, कविता की तर्कसंगत गति और 'अंतस्तनाव' का अर्थ है, कविता में निहित भावावेग और उसका आलंकारिक विकास। इन दोनों विसंवादी अर्थसंकेतों के ही उचित सामंजस्य को टेट ने 'तनाव' की संज्ञा दी है। उनके विचार से वही काव्य श्रेष्ठ है जिसमें 'बहिस्तनाव' और 'अंतस्तनाव' अपनी-अपनी चरम सीमाओं का स्पर्श करते हुए एकाकार हो जाते हैं।[2] आगे चलकर द्वितीय अध्याय में तनाव का सविस्तर विवेचन किया जायेगा।

रैंसम के शिष्य होते हुए भी टेट पर इलियट का गहरा प्रभाव है। स्थायी साहित्य का मूल यदि इलियट के मतानुसार भाव और विचार का सामंजस्य

---

१. द मैन ऑफ़ लेटर्स इन द मॉडर्न वर्ल्ड, पृ० ६४
२. वही, पृ० ७०

है तो टेट उसका स्रोत स्थूल और सूक्ष्म, बिंब और विचार के सामंजस्य में स्वीकार करते हैं। टेट की मान्यता है कि महान् दार्शनिक कवि अपने काव्य के लिए उसी विषय का चयन करते हैं जो उनके पाठकों के मानस में पहले से ही विद्यमान होता है, किंतु उनके इस काव्य का उद्देश्य उपदेश या प्रचार कभी नहीं होता — वे तो विचार को अपनी संवेदना का योग देकर कविता की सर्जना करते हैं, न कि किसी उपदेशात्मक प्रबंध की। इसके लिए टेट ने मिल्टन के 'पैराडाइज़ लॉस्ट' का उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसमें विचार और संवेदना का अत्यंत घनीभूत ताल-मेल देखने को मिलता है। विचार के अभाव में कविता अधिकांश आधुनिक कला की ही भाँति त्रेसिर-पैर की हो जाती है। प्रत्येक साहित्य का अपना एक निश्चित सामाजिक, नैतिक, अथवा धार्मिक उद्देश्य होता है जिसका ध्यान कलात्मक मूल्यों के साथ-साथ प्रत्येक महान् साहित्यकार को रहता है।

परंपरा पर भी टेट का बल वैसा ही है जैसा इलियट का। वे मानते हैं कि कवि क्रांतिकारी कभी नहीं होता, उसकी पृष्ठभूमि उसकी रचना का आधार होती है। वह युग के अभिनिवेश से परंपरा में संशोधन तो कर सकता है, किंतु उसका दामन कभी नहीं छोड़ता। सच्चे कवि वस्तुस्थिति से सम्यक् परिचित होते हैं, किंतु परंपरा से प्राप्त संस्कृति के बल पर वे इस वस्तुस्थिति को अपने उद्देश्य के अनुरूप मोड़ लेते हैं। इस प्रकार उनकी रचनाओं में परंपरा और अनुभूति के बीच एक आकर्षक तनाव देखने को मिलता है।

इलियट के निर्वैयक्तीकरण के सिद्धांत से भी टेट अछूते नहीं बचे हैं। इलियट की ही भाँति टेट की यह दृढ़ धारणा है कि कविता का काव्यत्व वैयक्तिकता में नहीं अपितु निर्वैयक्तिकता में निहित है। किसी रचना की कलात्मकता वैयक्तिकता के आधार पर निर्धारित नहीं की जा सकती। जो समीक्षक रचनाकार के मनोविज्ञान के सहारे काव्य की समीक्षा करता है वह हमें कलाकृति से दूर ले जाता है। टेट का स्पष्ट अभिमत है कि कविता अपना परिचय आप है। कविता के शब्द अपनी कहानी स्वयं कहते हैं, पाठक को उन शब्दों के अतिरिक्त अन्य कुछ जानने की आवश्यकता नहीं है।

टेट ने आदर्श समीक्षा की स्थिति ऐतिहासिक तथा अखबारी समीक्षाओं के बीच स्वीकार की है। इन समीक्षाओं के दोषों को अनावृत करते हुए उन्होंने कहा है कि अखबारी समीक्षा के पास मात्र एक ही मानदंड है और वह है भावानुभूति की प्रखरता; जबकि ऐतिहासिक समीक्षक सदैव असंबद्ध सूचनाओं को ही एकत्रित करने में संलग्न रहता है और इसलिए उसका अपना

कोई समीक्षा-मानदंड ही नहीं होता। टेट के अनुसार इर्विंग बेबिट एक आदर्श समीक्षक है, किंतु उसकी समीक्षा की भी एक सीमा है और वह यह कि उसके मूल्यांकन का आधार नैतिकता है। यह नैतिक मूल्यांकन किसी कृति की समीक्षा का मात्र एक पक्ष है, जबकि एक श्रेष्ठ समीक्षक कृति को एक इकाई मानकर उसका पूर्ण मूल्यांकन करता है।

**ईवोर विंटर्स** (१९००-१९६८) : नयी समीक्षा में अमेरिका के लब्ध-प्रतिष्ठ समालोचक ईवोर विंटर्स की स्थिति बड़ी विचित्र है — जहाँ एक ओर कविता के सूक्ष्म पाठ-विश्लेषण के कारण वे नये समीक्षकों की परिधि में आते हैं वहीं अपने नैतिकतावादी दृष्टिकोण के कारण इस दायरे से कूदकर अलग भी हो जाते हैं। यही कारण है कि रैंसम ने जहाँ एक ओर विंटर्स की समीक्षा-प्रक्रिया की भूरि-भूरि प्रशंसा की है, वहीं वे उनकी नैतिकता पर भी प्रहार करने से नहीं चूके हैं। उन्होंने बड़े ही साफ़ शब्दों में कहा है कि विंटर्स आलोचना की सही पद्धति, अर्थात् काव्य के संगठनात्मक गुणों का उद्घाटन करनेवाली समीक्षा, के व्यक्ति हैं, किंतु वे नैतिकतावादी अध्यास के शिकार हैं।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि रैंसम विंटर्स के सिर कविता में नीत्यन्वेषण का दोष भले ही मढ़ते रहें, किंतु वे उन्हें मानते अपने ही वर्ग का आलोचक हैं। वस्तुतः है भी ऐसा ही। उन्होंने अपने पूर्ण बुद्धि-वैभव से कृति का गंभीर विश्लेषण कर नयी समीक्षा में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाया है, और इसीलिए विलियम एल्टन ने उन्हें नयी समीक्षा का 'पैग़ंबर' (प्रॉफेट) घोषित किया है।[2]

विंटर्स का प्रथम आलोचनात्मक ग्रंथ 'प्रिमिटिविज़्म एंड डिकेडेंस' शीर्षक के अंतर्गत १९३७ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके लेखों में अमरीकी प्रयोगात्मक कविता का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद १९३८ ई० में 'मौलस कर्स' का प्रकाशन हुआ। इस पुस्तक के निबंधों में अमरीकी साहित्य में समागत दुर्बोधता के इतिहास पर दृष्टिनिक्षेप किया गया है। तदुपरांत १९४३ ई० में प्रकाशित 'द एनाटॉमी ऑफ़ नॉनसेंस' में रोमानी आलोचना की धज्जियाँ उड़ायी गयीं हैं। १९४७ ई० में उक्त तीनों ही पुस्तकों को एक साथ मिलाकर प्रकाशित किया गया और उसका नामकरण हुआ — 'इन डिफ़ेंस ऑफ़ रीज़न'।

---

१. द न्यू क्रिटिसिज़्म, भूमिका-भाग, पृ० ११-१२
२. अमेरिकन राइटिंग इन द ट्वेंटीएथ सेंचुरी, पृ० ३००

विंटर्स की अन्य समीक्षात्मक रचनाएँ हैं — 'एडविन आर्लिंग्टन रॉबिंसन' (१९४६), 'द फ़ंक्शन ऑफ़ क्रिटिसिज़्म : प्रॉबलम्स एंड एक्सरसाइज़ेज़' (१९५७), 'ऑन मॉडर्न पोइट्स' (१९५९), 'द पोइट्री ऑफ़ डब्ल्यू० बी० यीट्स' (१९६०), 'द पोइट्री ऑफ़ जे० वी० कनिंघम' (१९६१), 'फ़ॉर्म्स ऑफ़ डिस्कवरी : क्रिटिकल एंड हिस्टॉरिकल एसेज़ ऑन द फ़ॉर्म्स ऑफ़ द शॉर्ट पोइम इन इंग्लिश' (१९६७), 'अनकॉलेक्टेड एसेज़ एंड रिव्यूज़' (संपादक — फ़्रांसिस मर्फ़ी) (१९७९)।

समसामयिक समीक्षा के लिए विंटर्स की देन पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। यह बात अलग है कि कतिपय विचारक उनकी मान्यताओं से अपना वैमत्य व्यक्त करते रहे हैं और करते रहेंगे। नैतिकता उनकी आलोचना का एक प्रमुख आधार है और वे इसके बहुत बड़े पक्षधर हैं। उनके विचार से साहित्य-सिद्धांतों को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है — उपदेशवादी, आनंद-वादी, स्वच्छंदतावादी और नीतिवादी। इन चारों वर्गों में से उन्होंने अपनी सहानुभूति बड़े ही स्पष्ट शब्दों में नीतिवादी सिद्धांतों के साथ व्यक्त की है।[1] नैतिकता को उन्होंने काव्यानुभूति से अविभाज्य घोषित किया है।[2] उनका कथन है कि नैतिक अनुभूति मानव की पूर्णतम अनुभूति है।[3] 'कविता अपना उद्देश्य आप है, आप इसमें से नीति का निष्कर्षण नहीं कर सकते', रैंसम की शुद्धकविताविषयक इस धारणा पर करारा प्रहार करते हुए विंटर्स ने कहा कि इस प्रकार की कविता जनसाधारण को अपनी ओर कभी आकृष्ट नहीं कर सकती। पुरानी कविता सामान्य पाठकों तक को इसीलिए अभिभूत करती थी कि वह कलात्मक होने के साथ ही नैतिकता की भावना से भी पूर्ण होती थी। जहाँ तक नयी कविता की बात है, उसके पाठक मात्र वे ही लोग हैं जिन्हें कलात्मक प्रभावों की विशेष जानकारी है।[4] संक्षेप में, विंटर्स कहना चाहते हैं कि काव्य का सार नैतिकता में ही निहित है।

क्लिअंथ ब्रुक्स आदि नये समीक्षकों से विंटर्स एक अन्य बात में भी भिन्न हैं। नये समीक्षक जहाँ सामान्यतः कविता का पदान्वय असंभव मानते हैं वहाँ विंटर्स का मत है कि यद्यपि पदान्वय कविता के समकक्ष कभी नहीं हो सकता और वह सदैव पदान्वय की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ होती है तथापि

---

१. इन डिफ़ेंस ऑफ़ रीज़न, पृ० ३
२. वही, पृ० २९
३. वही, पृ० ५०३
४. वही, पृ० ५२८

अच्छी कविता वही है जिसका पदान्वय किया जा सके, और जिस कविता का पदान्वय नहीं किया जा सकता वह दोषपूर्ण है।[१]

विंटर्स की समीक्षा रचना के विवेचन-विश्लेषण तक ही सीमित न रहकर उसके मूल्यांकन तक पहुँचती है। उनका विश्वास है कि प्रत्येक कलाकृति का अपना निश्चित मूल्य होता है और सही निर्णय पर पहुँचना ईमानदार आलोचक का दायित्व है। स्टेनले एडगर हाइमन ने विंटर्स की समीक्षा की इस मूल्यांकन-पद्धति को बहुत बड़ी देन माना है।[२]

विंटर्स मात्र आलाचक ही नहीं, एक कवि भी हैं और ऐसे कवि जिन्होंने अपनी कविता में छंद के नियमों को स्वीकारा है। छंद के प्रति उनका यह आग्रह उनकी आलोचना में भी मुखर हो उठा है। वे मानते हैं कि कविता में छंद भाषा को स्वर ही नहीं अर्थ भी प्रदान करते हैं।[३] भावानुभूति का परिष्कार इन अर्थों में से एक है। अपनी इसी धारणा के कारण विंटर्स ने उन सारी कविताओं को असफल और दुर्बल बताकर उनका प्रत्याख्यान किया है जिनकी रचना मुक्त छंद में हुई है। छंद के प्रति अपने इस मोह के कारण ही उन्होंने लय को भी कविता के लिए आवश्यक माना है और कहा है कि लय में भाव-संप्रेषण की शक्ति होती है।[४]

विंटर्स काव्य के क्षेत्र में परंपरा के हिमायती हैं। उनका कथन है कि परंपरा (कन्वेंशन) के अभाव में अच्छे-से-अच्छा काव्य भी अपनी शक्ति खो बैठता है।[५] यद्यपि वे कविता में नये-नये प्रयोग करने के विरोध में नहीं हैं तथापि वे यह अनुभव करते हैं कि आजकल की कविता बड़ी तेज़ी से परंपरा से कटती जा रही है।

विंटर्स प्रयोगशीलता के विरोधी नहीं हैं, इसका पता उनके 'द एक्सपेरिमेंटल स्कूल इन अमेरिकन पोइट्री' नामक निबंध से भी चलता है। इस निबंध में उन्होंने प्रयोगशील कविता की विभिन्न रूपात्मक पद्धतियों पर विचार किया है। उनके अनुसार ये रूपात्मक पद्धतियाँ सात प्रकार की हो सकती हैं — १. पुनरावृत्ति की पद्धति (द मेथड ऑफ़ रिपिटीशन); २. तार्किक पद्धति (लॉजिकल मेथड); ३. विवरणात्मक (नैरेटिव); ४. छद्म-निर्देश (स्युडो-

---

१. इन डिफ़ेंस ऑफ़ रीज़न, पृ० ३१
२. द आर्म्ड विज़न, पृ० ५२
३. इन डिफ़ेंस ऑफ़ रीज़न, पृ० ५४६
४. वही, पृ० १२
५. वही, पृ० ७९

रिफ़रेंस); ५. गुणात्मक प्रगति (क्वालिटेटिव प्रोग्रेशन); ६. पद्धति-परिवर्तन (द आल्टरनेशन ऑफ़ मेथड); और ७. दुहरी चित्तवृत्ति (द डबल मूड)। उन्होंने इन सातों पद्धतियों में से छद्म-निर्देश पर बड़ी गहराई से विचार किया है। वे यह मानते हैं कि सत्काव्य की प्रत्येक पंक्ति, प्रत्येक अनुच्छेद, अथवा उसका प्रत्येक वाक्यांश एक विशिष्ट अनुभूति का संप्रेषण करता है और इस पंक्ति, अनुच्छेद, या वाक्यांश के कथ्य का पदान्वय भी संभव है। ऐसी कविता की रचना हो सकती है जो तार्किक क्रम की दृष्टि से दोष-रहित हो तथापि उसमें अनुभूति-क्रम न हो अथवा अनुभूति हो ही नहीं। अब इससे ठीक विपरीत स्थिति की कल्पना कीजिए जिसमें अनुभूति की संगति तो हो, किंतु यथासंभव तार्किक संगति कम हो। तार्किक संगति की इस कमी को दो प्रकार से पूरा किया जा सकता है — १ तार्किक संगति के अभाव या उसके सद्भाव के आधिक्य में भी व्याकरणसम्मत भाषा या तार्किक संगति से युक्त शब्दावली के माध्यम से तार्किक संगतिवाली अनुभूति की अभिव्यक्ति के द्वारा; अथवा २. तार्किक संगति के ढोंग का सर्वथा परित्याग करके। तार्किक संगति की प्रथम प्रकार की कमी को ही विंटर्स ने 'छद्म-निर्देश' नाम दिया है।[1] इस 'छद्म-निर्देश' के अनेक रूप हो सकते हैं, किंतु उन्होंने इसके सात रूप गिनाये हैं जो उसकी इयत्ता के नहीं, वरन् ईदृवता के सूचक हैं — १. तार्किक संगति के आधिक्य या उसके अभाव में व्याकरणिक संगति (ग्रेमेटिकल कोहेरेंस इन एक्सेस ऑफ़, ऑर इन द एब्सेंस ऑफ़ रेशनल कोहेरेंस); २. अनुभूति के एक क्षेत्र से दूसरे और असंबद्ध क्षेत्र को मूल्यों का अंतरण (ट्रांसफ़रेंस ऑफ़ वैल्यूज़ फ़्रॉम वन फ़ील्ड ऑफ़ एक्सपीरिएंस टु एनअॉदर एंड अनरिलेटेड फ़ील्ड); ३. अविद्यमान कथावस्तु का निर्देश (रेफ़रेंस टु नॉन-एक्ज़िस्टेंट प्लॉट); ४. अविद्यमान प्रतीकात्मक मूल्य का स्पष्ट निर्देश (एक्सप्लिसिट रिफ़रेंस टु ए नॉन-एक्ज़िस्टेंट सिम्बॉलिक वैल्यू); ५. अविद्यमान प्रतीकात्मक मूल्य का अस्पष्ट निर्देश (इंप्लिसिट रिफ़रेंस टु ए नॉन-एक्ज़िस्टेंट सिम्बॉलिक वैल्यू); ६. अविद्यमान अथवा दुरूह प्रेरणा-सिद्धांत का स्पष्ट निर्देश (एक्सप्लिसिट रिफ़रेंस टु ए नॉन-एक्ज़िस्टेंट ऑर ऑब्स्क्योर प्रिंसिपल ऑफ़ मोटिवेशन); और ७. पूर्णतः निजी प्रतीकात्मक मूल्य का निर्देश (रिफ़रेंस टु ए प्योरली प्राइवेट सिम्बॉलिक वैल्यू)।

विंटर्स भाषा के भी अच्छे चिंतक हैं। जहाँ भी अवसर मिला है वहाँ उन्होंने भाषा की दुहरी प्रकृति पर विचार किया है। उनके मतानुसार प्रत्येक

---

१. इन डिफ़ेंस ऑफ़ रीज़न, पृ० ४०

शब्द धारणा-रूप भी होता है और उद्बोध-रूप भी, वह संकेत-रूप भी है और भाव-रूप भी, तथा अनुभूति, उद्बोध अथवा भाव सीधे धारणा का ही परिणाम है और अपने अस्तित्व के लिए धारणा पर ही निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, 'वृक्ष' शब्द धारणामूलक है : यह एक विशिष्ट वस्तु-वर्ग की ओर संकेत कर रहा है। ज्ञान (पर्सेप्ट) और धारणा (कॉन्सेप्ट) के बीच निष्पत्तिमूलक संबंध कुछ भी हो, किंतु जब हम भाषा के प्रयोग पर आते हैं तब यह धारणा ही है जो अनुभूति को उद्बुद्ध करती है। आप ध्वनि को उसके धारणामूलक तत्त्व से पृथक् कर दीजिए और तब आप देखेंगे कि ध्वनि विशेष रूप से कुछ भी उद्बुद्ध नहीं करती है। अधिकांश लोगों के लिए गुणों, विचारों, अथवा मनःस्थितियों, जैसे न्याय या ईर्ष्या, को सूचित करनेवाले शब्दों में इंद्रियगोचरता का तत्त्व लगभग नहीं-सा है तथापि ये शब्द, कम-से-कम अस्पष्टतः ही सही, भाव के उद्बोधक हैं, और यदि इनका उचित प्रयोग किया जाय तो इनको सही रूप में उद्बोधक बनाया जा सकता है।[1] कविता की भाषा के विषय में विंटर्स का अभिमत है कि वह संकेत-रूप न होकर, भाव-रूप होती है।[2]

व्यावहारिक आलोचना के लिए विंटर्स ने पांच सूत्रों की स्थापना की है—

१. समीक्षक को कृतिविषयक ऐतिहासिक एवं जीवनवृत्तांतिक ज्ञान का कथन करना चाहिए।
२. कृतिकार के साहित्यिक सिद्धांतों का विश्लेषण अपेक्षित है।
३. कविता की उत्प्रेरक अर्थात् निर्वचनीय विषयवस्तु का मूल्य-निरूपण होना चाहिए।
४. विषय-वस्तु द्वारा उत्प्रेरित भाषा एवं शिल्प में द्रष्टव्य शैली की विस्तार वस्तुओं का तार्किक मूल्य-विवेचन आवश्यक है।
५. अंततः कृति का चरम मूल्यांकन होना ही चाहिए।[3]

उपर्युक्त सूत्रों में से प्रथम चार सूत्र विंटर्स की ऐतिहासिक आलोचना से संबद्ध दृष्टि का उद्घाटन करते हैं जबकि अंतिम सूत्र, जिस पर उनका

---

१. इन डिफ़ेंस ऑफ़ रीज़न, पृ० ५०२-५०३
२. वही, पृ० ५३४
३. द्रष्टव्य, डॉ० निर्मला जैन-द्वारा संपादित नयी समीक्षा के प्रतिमान, भूमिका-भाग, पृ० २९-३०

सर्वाधिक बल है, उन्हें नयी समीक्षा की परिधि में लाकर खड़ा कर देता है।

विंटर्स नये समीक्षकों की श्रेणी में इसलिए भी आ बैठते हैं कि वे भी आलोचना के लिए विद्वत्ता को आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि कविता मेधावी व्यक्तियों-द्वारा और मेधावी व्यक्तियों के लिए लिखी जाती है, इसलिए समीक्षक को भी विद्वान् होना पड़ेगा।

आजकल विश्वविद्यालयों में रोमानी विचारों से रंजित जो आनंदवादी समीक्षा चल रही है उसे विंटर्स बड़ी ही अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं। इसीलिए उन्होंने विश्वविद्यालयीय प्रोफ़ेसरों को 'भद्र और सामान्य मेधा के व्यक्ति' बताकर उनके प्रति अपनी सहानुभूति कम, तिरस्कार ही अधिक व्यक्त किया है।[1]

**रिचर्ड पामर ब्लैकमर (१६०४—१६६५)** : अद्भुत संवेदना और क्षमता के धनी, अरस्तू और कोलरिज की मध्यवर्ती विचारधारा के पोषक, नयी समीक्षा की विशिष्ट पद्धति को नकारनेवाले (अथवा यों कहिए कि नयी समीक्षा के सिद्धांतों का अपने ढंग से प्रयोग करनेवाले) स्वतंत्रचेता अमेरिकी समीक्षक आर० पी० ब्लैकमर नयी समीक्षा के एक प्रमुख स्तंभ हैं। उनकी आलोचना-प्रक्रिया कहीं-न-कहीं शिकागो-समीक्षकों से भी जाकर मिल जाती है, इसीलिए कुछ लोगों ने उन्हें बहुलवादी समीक्षक भी कहकर पुकारा है। उनकी विचारणा का केंद्र कविता की मात्र भाषा ही नहीं, उसके अन्य विविध पक्ष भी रहे हैं। कविता का कथ्य क्या है, भाषा उसमें किस प्रकार कार्य करती है, बिंब-योजना कैसी हुई है, अर्थ की पूर्णता किस रूप में प्राप्त की गयी है, एक कलाकृति कलाकृति ही क्यों है— वह वर्णनात्मक, सूचक, प्रचारक अथवा अन्य किसी प्रकार का लेखन क्यों नहीं है, इन सारे प्रश्नों के उत्तर ब्लैकमर की आलोचना में निहित हैं। विचार कलाकृति में काव्यार्थ का रूप कैसे धारण करते हैं तथा विचार, कल्पना और शिल्प के बीच क्या संबंध है, ब्लैकमर के अधिकांश निबंध इन्हीं प्रश्नों के उत्तर पाने की खोज में लिखे गये हैं।

कवि-समीक्षक ब्लैकमर की समालोचनात्मक कृतियाँ इस प्रकार हैं— 'द डबल एजेंट : एसेज इन क्राफ़्ट एंड एलुसिडेशन' (१९३५), 'द एक्सपेंस ऑफ़ ग्रेटनेस' (१९४०), 'लैंग्वेज ऐज जेस्चर : एसेज इन पोइट्री' (१९५२), 'द लॉयन एंड द हॉनीकॉम्ब : एसेज इन सॉलिमिट्यूड एंड क्रिटीक' (१९५५),

१. इन डिफ़ेंस ऑफ़ रीज़न, पृ० ७-८

'एनी मिराबिलीज़, १९२१-१९२५ : रीज़न इन द मैडनेस ऑफ़ लेटर्स' (१९५६), 'इलेवेन एसेज़ इन द यूरोपियन नॉवल' (१९६४), 'ए प्राइमर ऑफ़ इग्नोरेंस' (संपादक — जोसेफ़ फ़्रैंक) (१९६७)। उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृतियों में से 'द डबल एजेंट' में कविता के मूल पाठ से संबद्ध विश्लेषण, भाषा और शैली के द्वारा कथ्य, संवेद्य-तत्त्व से उभरनेवाले अर्थ, रचना-विधान और संगति की आवश्यकताएँ, आदि विषयों पर विचार किया गया है। 'द एक्सपेंस ऑफ़ ग्रेटनेस' के निबंधों का मुख्य प्रतिपाद्य कविता का संवेद्य-तत्त्व और इस तत्त्व की प्रमुख समस्याएँ हैं। 'लैंग्वेज ऐज़ जेस्चर' में भाषा का अत्यंत गहन और सूक्ष्म अध्ययन है। साथ ही आलोचना के स्वरूप पर भी प्रकाश डालने का अच्छा प्रयास किया गया है। 'द लॉयन एंड द हॉनीकॉम्ब' भी मूलतः समीक्षा के करणीय को ही आलोकित करनेवाली पुस्तक है।

ब्लैकमर की आलोचना, कविता की भाषा के विवेचन से प्रारंभ होती है और इसी भाषिक विश्लेषण से ही इनके बहुचर्चित भंगिमा-सिद्धांत का जन्म हुआ है। भाषा को इन्होंने भंगिमा-रूप माना है। इतना ही नहीं, वे तो भंगिमा को उसका मूल तक स्वीकार करते हैं। इसके अभाव में भाषा सर्वथा अशक्त दिखाई पड़ती है। इसका महत्त्व न केवल कविता में है, वरन् स्थापत्य, शिल्प, चित्र, नृत्य, अभिनय तथा संगीत सभी कलाएँ इसके अभाव में निष्प्राण हैं — इसके रहते हुए ही प्रत्येक कला जीवन से स्पंदित जान पड़ती है। इस सिद्धांत का विशद विवेचन द्वितीय अध्याय में किया जायेगा।

ब्लैकमर कवि से यह अपेक्षा करते हैं कि वह अपनी काव्य-सामग्री का तार्किक नियोजन करे। सामग्री के इस तार्किक नियोजन के लिए उपयुक्त शब्द अपेक्षित हैं। श्रेष्ठ कवि शब्दों का प्रयोग उनके कोशगत अर्थों में ही करके अपने काव्य में नूतनता एवं वैचित्र्य का आधान करते हैं। किसी विशिष्ट भाव, विचार या वस्तु के सूचक पर्यायवाची शब्दों में कौन-सा शब्द संदर्भ के नितांत उपयुक्त पड़ता है, इसका चयन कवि का कार्य है। ब्लैकमर यह तो मानते हैं कि संदर्भ-विशेष में प्रयुक्त होकर शब्द अपने कोशगत रूप से थोड़ा-सा परिवर्तित हो सकता है, किंतु वह अपने रूप को सर्वथा खो दे, यह संभव नहीं। इस प्रकार ब्लैकमर ने जे० सी० रैंसम तथा क्लिअंथ ब्रुक्स की इस धारणा पर गहरा आघात किया है कि शब्द कविता में प्रयुक्त होकर सर्वथा नूतन अर्थ के द्योतक बन जाते हैं।

ब्लैकमर का यह दृढ़ विश्वास है कि अनुभूतियों को तदाकार रूप में व्यक्त

करने के लिए शब्द निश्चय ही होते हैं। इन्हीं शब्दों की तलाश कर अनुभूतियों का रूपायित करना लेखक का धर्म है। यदि वह अनुभूतियों को उनका अपना रूप नहीं दे सकता तो कम-से-कम उनके समीप पहुँचने का उसे अवश्य प्रयास करना चाहिए।[1]

ब्लैकमर का कथन है कि कविता को एक इकाई होना चाहिए। उसका रचना-विधान तर्कसंगत होना चाहिए और उसके सारे घटकों को इस प्रकार नियोजित किया जाना चाहिए कि सब मिलकर एक जान पड़ें। टी० एस० इलियट की भाँति ब्लैकमर भी आत्माभिव्यक्ति को कविता स्वीकार नहीं करते हैं। कारण यह कि निजी अभिव्यक्ति सुनियोजित नहीं हो पाती और इसीलिए कविता की तार्किक संगति समाप्त हो जाती है। यह बात दूसरी है कि दांते-जैसे महान् कवि प्रबल स्वानुभूति के क्षणों में भी पूर्ण सुसंबद्ध और निर्भ्रांत बने रहते हैं।

'ए फ़ेदर-बेड फ़ॉर क्रिटिक्स' नामक निबंध में ब्लैकमर ने लिखा है कि सर्जना वास्तविकता से नद्ध है। लेखक समाज को जिस रूप में देखता है उस रूप में वह उसे अंकित न करे, यह हो नहीं सकता। वास्तविकता को सही रूप में अंकित करने के लिए वह बाध्य है। यदि वह किसी अद्भुत और अवास्तविक पदार्थ को भी उतार रहा है तो उसे यह ध्यान रखना पड़ेगा कि वह उसे अपनी कृति में इस प्रकार उतारे कि वह वास्तविक, बल्कि वास्तविक से भी अधिक वास्तविकता का आभास देने लगे।

कविता के संवेद्य-तत्त्व के लिए कवि के विश्वास को आवश्यक घोषित करते हुए ब्लैकमर ने कविता की पृष्ठभूमि को परंपरा और नैतिकता के द्वारा पुष्ट किये जाने पर बल दिया है। उन्हें इस बात का दुःख है कि आज के अमरीकी जगत ने परंपरा और नैतिकता को उठाकर ताक पर रख दिया है। परिणामतः न ही कविता और न ही उसकी आलोचना में जीवन के ये मूल्य देखने को मिलते हैं।

आलोचना को ब्लैकमर ने 'कला के शौकीन का औपचारिक संवाद'[2] माना है। शब्दांतर से, वे यह कहना चाहते हैं कि आलोचक को सहानुभूति-प्रवण होना चाहिए। यदि वह कविता का रसिक है तो उसे उसकी गहरी जानकारी हो सकती है। व्यक्ति जिस पदार्थ से प्रेम करता है उसे वह

१. लैंग्वेज ऐज़ जेस्चर, पृ० ३२३
२. वही, पृ० ३७२

बार-बार निरखता है, परखता है और अपने जीवन में उसका कुछ-न-कुछ उपयोग देखना चाहता है। आलोचना इसी उपयोग की खोज का साधन है, वह साध्य नहीं है।

समीक्षा वैयक्तिक न हो उठे, इसके लिए परंपरागत प्रतिमानों की आवश्यकता है। किंतु यहाँ भी एक भय है और वह यह कि ये प्रतिमान व्यवस्था बनकर व्यक्ति की समीक्षा-शक्ति को भी कुंठित कर सकते हैं। आई० ए० रिचर्ड्स की समीक्षा में ब्लैकमर को इसी प्रकार की त्रुटि दिखायी पड़ी है, काव्य-भाषा के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण उनकी समीक्षा ने भाषाशास्त्र का रूप ग्रहण कर लिया है।

१९४० ई० के आस-पास ब्लैकमर को आलोचना की गति लगभग रुद्ध होती-सी जान पड़ी और तब १९४१ ई० में उन्होंने अपने निबंध 'द एनेब्लिंग ऐक्ट ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' में आलोचक के समक्ष एक कामचलाऊ मार्ग रखा। उन्होंने कहा कि आलोचक को यह मानकर चलना चाहिए कि साहित्य के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण ही पर्याप्त नहीं है, साहित्येतर मानदंड भी कलाकृति की महत्ता के निर्धारण में सहायक होते हैं। इसीलिए उसे रचना की समीक्षा करते समय लेखक की उन सारी नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक रुचियों को सामने रखना होगा जिनका प्रयोग सर्जना में किया गया है।

आगे चलकर ब्लैकमर की आलोचना-दृष्टि और अधिक विकसित हुई। उन्होंने समीक्षा को चार प्रमुख श्रेणियों में त्रिभक्त किया। प्रथम श्रेणी के अंतर्गत छंद और कथानक आते हैं जो केवल पाठक के ध्यान को ही अपनी ओर आकृष्ट नहीं करते, वरन् साहित्य को उसके कथ्य के साथ बाँधते भी हैं। द्वितीय श्रेणी का संबंध भाषिक प्रविधियों से है। इसमें बिंब और अलंकार आते हैं। ये बिंब और अलंकार साहित्य को अर्थवत्ता प्रदान करते हैं और साहित्य की आधारभूत सामग्री की समृद्धि का अंशतः निर्देश करते हैं। इन अलंकारों को ब्लैकमर ने कला का प्रसाधनपरक बाह्य तत्त्व न मानकर, आंतरिक तत्त्व स्वीकार किया है। आलोचना की तृतीय श्रेणी कल्पना के कार्य का बड़ी गहराई से अध्ययन कर यह देखने का प्रयास करती है कि बिंब और मुहावरे संवाद को मूल अनुभूति की सीमा तक सार्थक बना सके हैं या नहीं। इसके लिए आलोचक अनेक प्रविधियों, जैसे वैचारिक आलोचना, और निर्णयात्मक, फ़ायडवादी अथवा परिवेशपरक सिद्धांतों, का उपयोग करता है। ये पद्धतियाँ अनुभूत पदार्थ या विचार से संबद्ध सत्य को अनावृत करने में

सहायता पहुँचाती हैं। चतुर्थ श्रेणी के समीक्षकों का कार्य यह देखना है कि यह अनावृत सत्य या वास्तविकता किस सीमा तक कलात्मक बन सकी है।

अनेक नये समीक्षकों से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए ब्लैकमर ने डंके की चोट पर कहा है कि कविता की समीक्षा उसके संवेद्य-तत्त्व और रूप-तत्त्व के आधार पर करनी होगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कविता और तदनुसार आलोचना में मानवीय और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करना अनिवार्य है।[1]

नयी समीक्षा की प्रक्रिया से उनका मतभेद है और इसीलिए वे कहते हैं कि समीक्षा में मात्र भाषिक विश्लेषण से काम नहीं चलेगा। नयी परिस्थितियों के प्रकाश में हमें पुराने सिद्धांतों को पुनरुज्जीवित करना होगा। आज हमें आलोचना के विवेचन और विश्लेषण-पक्ष से आगे जाकर उसके तुलनात्मक और मूल्यांकनपरक रूप की भी स्थापना करनी पड़ेगी।

आलोचना के लिए ब्लैकमर ने विद्वत्ता को अनिवार्य शर्त माना है। ये दोनों, अपने सही अर्थों में, एक ही क्षेत्र का निर्माण करती हैं; क्योंकि दोनों में अनिवार्य रूप से गहरा पारस्परिक संबंध है और एक के अभाव में दूसरे की स्थिति बड़ी ही दयनीय हो जाती है। आलोचना साहित्य से वह ग्रहण करती है जो उपयोगी है, और विद्वत्ता साहित्य के विषय में होती है। आलोचना प्रयोग-रूप है, विद्वत्ता प्रयोग का साधन है। आलोचना का समझौता अनुकरण अथवा सर्जन के कार्य से है, विद्वत्ता का समझौता विवरण अथवा पुनःस्मरण या इतिहास से है। आलोचना कृति में है, विद्वत्ता कृति से बाहर। आलोचना का संबंध कृति में समागत विचारानुभूति से है, विद्वत्ता का संबंध उन विचारों से है जो कृति में हो भी सकते हैं और नहीं भी। विद्वत्ता और आलोचना, दोनों ही एक-दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करती हैं। निर्णयात्मक आलोचना तो विद्वत्ता के अभाव में आगे बढ़ ही नहीं सकती।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि आलोचना के क्षेत्र में ब्लैकमर का दृष्टिकोण पर्याप्त उदार है।

**रॉबर्ट पेन वारेन (१९०५- )** : अमेरिकी उपन्यासकार-कवि-नाटककार-समीक्षक तथा क्लिअंथ ब्रुक्स के सहयोगी रॉबर्ट पेन वारेन ने यद्यपि किसी नये समीक्षा-सिद्धांत को जन्म नहीं दिया तथापि कविता के विश्लेषण

---

१. लैंग्वेज ऐज़ जेस्चर, पृ० ३७२

२. द लॉयन एंड द हॉनीकॉम्ब, पृ० १८०-८१

की उनकी पद्धति वही है जो नये समीक्षकों की। आलोचना के क्षेत्र में उनकी साधना का आरंभ मुख्यतः 'सदर्न रिव्यू' (१९३५-१९४२) पत्रिका से आरंभ होता है। क्लिअंथ ब्रुक्स के संपादकत्व में प्रकाशित होनेवाली इस पत्रिका के वे सहसंपादक रहे। १९४२ ई० से वे 'केन्यन रिव्यू' के परामर्शदाता संपादक बने। क्लिअंथ ब्रुक्स के सहलेखकत्व में ही उनकी तीन और कृतियाँ प्रकाश में आयी हैं—'अंडरस्टैंडिंग पोइट्री' (१९३८), 'एन एप्रोच टु लिटरेचर' (१९४१), तथा 'अंडरस्टैंडिंग फ़िक्शन' (१९४३)। उनके आलोचनात्मक निबंधों का एक संग्रह १९५८ ई० में 'सेलेक्टेड एसेज़' नाम से प्रकाशित हुआ है। इसी पुस्तक में उनका ख्यातिलब्ध निबंध 'प्योर एंड इंप्योर पोइट्री' (१९४२) संकलित है। आलोचना से संबंधित उनकी दो अन्य पुस्तकें भी प्रकाश में आयी हैं जिनके नाम हैं—'ए प्ली इन मिटिगेशन : मॉडर्न पोइट्री एंड द इंड ऑफ़ एन इरा' (१९६६), तथा 'डेमॉक्रेसी एंड पोइट्री' (१९७५)।

वारेन की शुद्धकाव्यविषयक धारणा साहित्य-जगत् में कोई नयी नहीं है—उनसे काफी पहले बोदलेयर, मलार्मे तथा रेम्बू इस विषय पर बड़ी गहराई से विचार कर चुके हैं तथापि अँग्रेज़ी में इस धारणा का अपने ढंग से पुनराख्यान कर उसे नूतन जीवन प्रदान करने का श्रेय उन्हें अवश्य है। उनका कथन है कि काव्य (पोइट्री) को शुद्ध होना चाहिए। यदि किसी काव्य को वास्तव में काव्य-संज्ञा का अधिकारी बनना है तो उसे शुद्ध होना ही पड़ेगा; इसका अर्थ यह है कि शुद्ध काव्य अकाव्य (नॉन-पोइट्री) नहीं हो सकता। शेक्सपियर पोप तथा हेरिक का वास्तविक काव्य शुद्ध काव्य है।[1] यहाँ पर वारेन का अभिप्राय यह है कि नैतिकता एक प्रकार का दूषण है। इस नैतिकता के आधान से काव्य दुष्ट किंवा अशुद्ध हो जाता है। अपनी स्वायत्त सत्ता के लिए काव्य को नैतिकता के भार से मुक्त रहना होगा।

आगे चलकर वे लिखते हैं, "काव्य (पोइट्री) को शुद्ध होना चाहिए कविताओं (पोइम्स) को नहीं।"[2] अपने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि अधिकांश कविताएँ ऐसी होती हैं जो बहुत अधिक शुद्ध नहीं होतीं। किन्तु ये ही कविताएँ हमें वह काव्य देती हैं जो शुद्ध होता है, और एक अच्छी कविता के सारे तत्त्व मिलकर इस शुद्ध काव्य को ही प्रदान करने की दिशा में कार्य करते हैं, परंतु कविता के ये तत्त्व विरोधी प्रतिभासित हो

१. सेलेक्टेड एसेज़, पृ० ४
२. वही, पृ० ४

सकते हैं ।[1] कविता तो सामान्यतः उपयोग ही विरोधी तत्त्वों अथवा अशुद्धताओं का करती है। वारेन के अपने ही शब्दों में, "कविताएँ अपने को श्रुतिकटु ध्वनियों, आरोह-अवरोहमयी लयों, भोंड़े शब्दों और भोंड़े विचारों, बोलचाल के मुहावरों, पिष्टोक्तियों, अनुर्वर प्राविधिक शब्दों, बौद्धिक व्यापार तथा तर्क, वदतोव्याघातों, चतुराइयों, वक्रता, (एवं) यथार्थवाद से विकृत करती हैं। ये सारे तत्त्व हमें गद्य-संसार और अपूर्णता की ओर घसीटते हैं।"[2] इन विषमताओं के अभाव में अच्छी कविता की सृष्टि ही संभव नहीं है — उसे श्रेष्ठ होने के लिए इनमें से कतिपय को आत्मसात् करना ही होगा। उदाहरणार्थ, यदि कोई शुद्ध कवि अपने काव्य में प्रणय की व्यंजना करना चाहता है तो सामान्यतः वह इस भाव को स्वर्गीय, सुंदर और शुद्ध रूप में प्रस्तुत करेगा। प्रणय उसके लिए बड़ा ही मृदुल विषय है और वह प्रणय की इसी मृदुता पर बल देगा। किंतु, वारेन का तर्क है कि इस प्रकार का बल उस शुद्ध कवि के अपकर्ष का कारण बनेगा। कारण यह कि प्रणय का एक दूसरा पक्ष भी है — वह अश्लील, शारीरिक तथा उपहासास्पद भी तो हो सकता है। यदि कवि प्रणय की इस विरोधी प्रकृति के प्रति जागरूक नहीं है तो वह उपहास का पात्र भी बन सकता है। ऐसे स्थलों पर उसे वक्रता से काम लेना पड़ेगा; क्योंकि वक्रता ऐसी युक्ति है जिसके माध्यम से अनुभूति की जटिलताओं और अंतर्विरोधों की ओर संकेत किया जा सकता है।

प्रस्तुत विषय को ही और आगे बढ़ाते हुए वारेन ने प्रश्न किया है कि वे कौन-से तत्त्व हैं जिनका उपयोग कविता के रचना-तंत्र (स्ट्रक्चर) में नहीं किया जा सकता? प्रश्न का उत्तर स्वयं देते हुए उन्होंने कहा है कि मानवानुभूति में जो कुछ उपलब्ध है उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे कविता से बाहर ठहराया जाय। दूसरे शब्दों में, मानव की प्रत्येक अनुभूति काव्य-क्षेत्र की सीमा में आती है। इसका अर्थ यह क़तई नहीं है कि किसी कविता में कुछ भी ठूँसा जा सकता है, अथवा कुछ सामग्री या तत्त्व दूसरी सामग्री या तत्त्वों की अपेक्षा अधिक आड़े नहीं आ सकते हैं, अथवा यह कि कुछ वस्तुओं के अधिकांश का आधान सरल कार्य न हो। किंतु इसका अर्थ यह है कि किसी भी प्रकार की सामग्री, कतिपय संदर्भों को छोड़कर, एक कविता में योग देती हुई दिखाई पड़ सकती है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि एक कवि की महत्ता अनुभूति-क्षेत्र की उस सीमा पर निर्भर करती है जिस पर वह काव्या-

१. सेलेक्टेड एसेज़, पृ० ४

२. वही, पृ० ४-५

त्मक रूप से अधिकार कर सकता है।[1] सीधे-सच्चे शब्दों में, कवि की महत्ता की निर्णायक काव्य में प्रयुक्त उसकी अनुभूति की व्यापकता होती है।

**क्लिअंथ ब्रुक्स (१९०६- ):** यद्यपि अमेरिकावासी ब्रुक्स पिछले कुछ वर्षों से अपने ऊपर नये समीक्षक का लेबल लगवाने से कतराने लगे हैं[2] तथापि यह निश्चित है कि नयी समीक्षा का चरम विकास उनमें ही देखने को मिलता है। जिस निष्ठा और ईमानदारी के साथ उन्होंने इस समीक्षा-पद्धति को अपनाया है वह किसी भी नये समीक्षक में देखने को नहीं मिलती है। अपनी विभिन्न समीक्षात्मक कृतियों के द्वारा उन्होंने इसे जन-जन में प्रिय बनाया है। विलियम एल्टन का यह कथन सर्वथा सत्य है कि क्लिअंथ ब्रुक्स गली-गली में नयी समीक्षा के प्रचारक हैं और आर० पी० वारेन के साथ मिलकर उन्होंने सूक्ष्म पाठ-विश्लेषण के मंत्र को बड़े ही प्रभावकारी ढंग से सभी ओर फूँका है।[3] रेने वेलेक ने तो अमेरिकी समीक्षकों में केवल क्लिअंथ ब्रुक्स को ही वास्तविक 'रूपवादी' समीक्षक माना है।[4]

नयी समीक्षा के प्रचार-प्रसार में रॉबर्ट पेन वारेन क्लिअंथ ब्रुक्स के प्रमुख सहयोगी रहे हैं। पहले दोनों ने मिलकर 'सदर्न रिव्यू' (१९३५-१९४२) पत्रिका का संपादन किया तदुपरांत दोनों के सह-लेखकत्व में तीन समीक्षात्मक कृतियाँ और प्रकाश में आयीं 'अंडरस्टैंडिंग पोइट्री' (१९३८), 'एन एप्रोच टु लिटरेचर' (१९४१) तथा 'अंडरस्टैंडिंग फ़िक्शन' (१९४३)। इन तीनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना 'अंडरस्टैंडिंग पोइट्री' है। यह पुस्तक नयी समीक्षा के व्यावहारिक रूप का चरम निदर्शन है। जे० सी० रैंसम ने तो इसे नव्यालोचन के क्षेत्र में कविता का अध्ययन करने के निमित्त 'सर्वश्रेष्ठ नियम-पुस्तक' (बेस्ट मैनुअल) की संज्ञा दी है।[5] इसमें दोनों ही लेखकों का बल इस बात पर है कि कविता को एक विशुद्ध साहित्यिक कृति के रूप में आत्मसात् किया जाना चाहिए — पदान्वय, कवि-परिचय, प्रेरणास्रोत तथा नैतिकता का अध्ययन कविता के समझने में सहायक तो हो सकता है, किंतु उसके समकक्ष नहीं। (आगे चलकर अपनी पुस्तक 'द वेल रॉट अर्न' में तो ब्रुक्स ने पदान्वय को कविता के अध्ययन के क्षेत्र से दूध की मक्खी की भाँति निकालकर बाहर

---

१. सेलेक्टेड एसेज पृ० २६-२७
२. ए शेपिंग ज्वॉइ, भूमिका-भाग, पृ० ११
३. अमेरिकन राइटिंग इन द ट्वैंटीएथ सेंचुरी, पृ० ३००
४. कॉन्सेप्ट्स ऑफ़ क्रिटिसिज्म, पृ० ६२
५. द न्यू क्रिटिसिज्म, पृ० ६३

फेंक दिया ।) न ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण कविता की व्याख्या में सहायक हो सकता है, क्योंकि साहित्य का संबंध जिस सामग्री से है वह विज्ञान की सामग्री से नितांत भिन्न है । इस ग्रंथ ने विश्वविद्यालयीय ऐतिहासिक आलोचना को गहरा धक्का पहुँचाया है और उसके स्थान पर नयी समीक्षा की प्रतिष्ठा में बहुत बड़ा योगदान किया है ।

'मॉडर्न पोइट्री एंड द ट्रेडिशन' (१९३९) के निबंधों में रूपक और वैदग्ध्य पर विचार करने के उपरांत 'मेटाफिज़िकल' और 'सिम्बॉलिस्ट' कवियों से लेकर १९३९ ई० तक के कवियों को चिंतन का केंद्र बनाया गया है । विवेचन की पद्धति यहाँ भी लगभग वही है जो 'अंडरस्टैंडिंग पोइट्री' में; अर्थात्, विभिन्न कवियों के काव्यांशों का विश्लेषण विशुद्ध काव्य के दृष्टिकोण से किया गया है, परिवेश को एकदम ही नकार दिया गया है । साथ ही यहाँ ब्रुक्स ने कविता को एक अखंड इकाई माना है — संवेद्य और रूप तत्त्वों के रूप में कविता का विभाजन उन्हें स्वीकार्य नहीं है ।[1]

यदि नयी समीक्षा का चरम विकास विलअंथ ब्रुक्स में लक्षित होता है तो विलअंथ ब्रुक्स की समीक्षा का चरम विकास उनके ग्रंथ 'द वेल रॉट अर्न' (१९४७) में । उनके विख्यात सिद्धांत विरोधाभास का प्रतिफलन यहीं आकर हुआ है । आरंभ में विरोधाभास को काव्यभाषा का मानदंड घोषित करने के उपरांत शेक्सपियर से लेकर यीट्स तक के लगभग सभी प्रतिनिधि कवियों की प्रतिनिधि कविताओं की जाँच-परख विरोधाभास के निकष पर ही की गयी है । उनकी स्थापना है कि श्रेष्ठ कविता वही है जिसमें विरोधाभास की भाषा का प्रयोग किया गया हो । उनकी इस कसौटी पर वर्ड्सवर्थ-जैसे अभिधा-वादी कवि को भी खरा उतरना पड़ा है । पुस्तक के अंत में ब्रुक्स ने पदान्वय को कविता की व्याख्या में बहुत बड़ा रोड़ा सिद्ध किया है । यहीं पर उन्होंने कविता की संरचना (स्ट्रक्चर) पर भी जमकर विचार किया है । वस्तुतः प्रस्तुत रचना ब्रुक्स के बुद्धि-वैभव का चरम परिपाक है ।

'ए शेपिंग ज्वॉइ' (१९७१) के विविध निबंधों में बल एक बार फिर पाठक अथवा लेखक की अपेक्षा कृति पर है ।[2] यहाँ ब्रुक्स ने लेखक के अभिप्राय को ग्रहण कर उसके आधार पर रचना की समीक्षा को 'अभिप्रायपरक हेत्वाभास' (इंटेंशनल फ़ैलसी), तथा पाठक पर पड़ने वाले प्रभाव या लोकप्रियता के आधार पर उसकी समीक्षा को 'प्रभावपरक हेत्वाभास'

---

१. मॉडर्न पोइट्री एंड द ट्रेडिशन, भूमिका-भाग, पृ० २६
२. ए शेपिंग ज्वॉइ, भूमिका-भाग, पृ० १६

(एफ़ेक्टिव फ़ैलसी) माना है।[1] इन दोनों ही समीक्षा-पद्धतियों को उन्होंने भ्रामक ठहराया है। उनका विरोधाभास का सिद्धांत यहाँ भी सक्रिय है। उनके द्वारा रचित अन्य समीक्षा-ग्रंथ हैं — 'पोइट्री इन द एज ऑफ़ एनक्ज़ाइटी' (१९४७), 'पोइम्स ऑफ़ मिस्टर जॉन मिल्टन' (जॉन एडवर्ड हार्डी के साथ) (१९५१), 'लिटरेरी क्रिटिसिज़्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री' (डब्ल्यू० के० विम्साट के साथ) (१९५७), 'द हिडिन गॉड : स्टडीज़ इन हेमिंग्वे, फ़ाकनर, यीट्स, इलियट, एंड वारेन' (१९६३), और 'द पोइट्री ऑफ़ टेंशन' (१९७१)।

ब्रुक्स ने कविता के विषय में अपने विभिन्न विचारों को बड़े ही निर्भ्रांत और साथ ही अत्यंत प्रबल शब्दों में व्यक्त किया है। उनके मतानुसार कविता में संरचना का बड़ा ही महत्त्व है। उनका स्पष्ट कथन है कि कविता की उत्कृष्टता का आख्यान 'कथ्य' अथवा 'विषय-वस्तु' जैसे पारंपरिक शब्दों के माध्यम से नहीं, अपितु संरचना-जैसे शब्द के द्वारा ही हो सकता है।[2] संरचना से अभिप्राय पिष्टपेषित अर्थ में प्रयुक्त उस 'रूप' तत्त्व से नहीं है जिसे 'संवेद्य' (कॉन्टेंट) को अपने में समो लेने वाला लिफाफा समझा जाता है, वरन् "संरचना से तात्पर्य अर्थों, मूल्यांकनों तथा व्याख्याओं की संरचना से है; और वह जिस अन्विति-सिद्धांत से सूच्य है वह लक्ष्यार्थों, अभिवृत्तियों (एटीटयूड्स) तथा अर्थों के संतुलन-सामंजस्य का सिद्धांत प्रतीत होता है। किंतु यहाँ भी (कतिपय) महत्त्वपूर्ण प्रतिबंधों को ध्यान में रखना आवश्यक है : यह सिद्धांत ऐसा नहीं जिसमें विभिन्न तत्त्वों को सजातीय वर्गों में व्यवस्थित कर देने का, दो समान तत्त्वों को मिला देने का, काम होता है। वह तो समान (तत्त्वों) को असमान (तत्त्वों) के साथ जोड़ता है। तथापि इन तत्त्वों की अन्विति में न तो एक लक्ष्यार्थ के द्वारा दूसरे लक्ष्यार्थ को बाधित करने के सरल ढंग को अपनाया जाता है और न ही घटाने की प्रक्रिया के द्वारा परस्पर विरोधी अभिवृत्तियों को सामंजस्य में परिणत किया जाता है। यह अन्विति एक ऐसी अन्विति नहीं है कि जिसे बीजगणितीय फ़ॉर्मूले के अनुरूप घटाने और सरलीकरण के द्वारा प्राप्त किया जा सके। यह तो विधेयात्मक अन्विति है, निषेधात्मक नहीं; यह अवशिष्ट सामंजस्य का नहीं, अपितु अर्जित सामंजस्य का निरूपण करती है।"[3] कविता की इस संरचना में 'अनेकार्थता' (ऐंबिगुइटी), 'विरोधाभास', 'अभिवृत्ति-जाटिल्य' और 'वक्रता', इन सभी का समावेश है।[4]

---

१. ए शेपिंग ज्वॉइ, भूमिका-भाग, पृ० १४
२. द वेल रॉट अर्न, पृ० १५८
३. वही, पृ० १५९
४. वही, पृ० १५९

कविता की इस संरचना की तुलना पहले तो ब्रुक्स ने स्थापत्य तथा चित्र-कलाओं की संरचना से की है, किंतु इससे उन्हें लगा कि संरचना के जिस स्वरूप की ओर वे इंगित करना चाहते हैं इस सादृश्य से शायद वह उभर नहीं पाया है और तब उन्होंने इसे नाटक की संरचना के तुल्य घोषित किया ।[१]

वास्तव में यदि थोड़ा-सा गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट पता चल जायेगा कि ब्रुक्स ने 'रूप' तत्त्व के लिए ही 'संरचना' शब्द का प्रयोग किया है। परंपरा से एक निश्चित अर्थ में व्यवहृत होने के कारण उन्हें लगा कि यह शब्द उनके अभिप्राय को व्यक्त करने में अशक्त है और इसीलिए उन्होंने 'द वेल रॉट अर्न' तथा आगे आनेवाली कृतियों में सामान्यतः 'रूप' के स्थान पर 'संरचना' शब्द का ही प्रयोग किया है ।

ब्रुक्स कविता को एक अविभाज्य इकाई स्वीकार करते हैं । जिन तत्त्वों से कविता की सृष्टि होती है उनके अंतःसंबंधों को उन्होंने अपने निबंध 'आयरनी ऐज़ ए प्रिंसिपिल ऑफ़ स्ट्रक्चर' में बड़ी ही काव्यमयी भाषा के माध्यम से व्यक्त करते हुए लिखा है — "किसी कविता के तत्त्व परस्पर, एक गुलदस्ते में एक-दूसरे से सटाकर सँजोये हुए पुष्पों की भाँति नहीं, अपितु उन पुष्पों की भाँति संबद्ध होते हैं जो एक विकसनशील पौधे के दूसरे भागों से जुड़े रहते हैं। कविता का सौंदर्य सारे पौधे के पुष्पन की नाईं है जिसे तना, पत्ते और पृथ्वी में अंतर्निहित जड़ें, इन सभी की आवश्यकता है ।"[२]

कविता की भाषा को ब्रुक्स ने अनिवार्यतः विरोधाभास की भाषा माना है। यही भाषा कविता के नितान्त उपयुक्त है । कवि जिस सत्य को अभि-व्यक्ति देता है उसे विरोधाभास के द्वारा ही समझा जा सकता है; क्योंकि विरोधाभास कवि की भाषा का स्वभाव है। यही वह युक्ति है जिसके माध्यम से कवि अपनी अनुभूति को अवितथ रूप से संप्रेषित करने में सक्षम हो पाता है। ब्रुक्स के इस विरोधाभास के सिद्धांत का विस्तृत आख्यान द्वितीय अध्याय का विषय है ।

विरोधाभास के अतिरिक्त ब्रुक्स ने वक्रता, रूपक तथा वैदग्ध्य को भी काव्यभाषा के अनिवार्य उपकरणों के रूप में स्वीकार किया है ।

---

१. द वेल रॉट अर्न, पृ० १६६

२. विलियम जे० हैंडी तथा मैक्स वेस्टब्रुक-द्वारा संपादित ट्वेंटीएथ सेंचुरी क्रिटिसिज्म, पृ० ६०

विज्ञान और कविता की भाषा में अंतर स्थापित करते हुए ब्रुक्स ने कहा है कि विज्ञान में किसी वस्तु का कथन स्पष्ट, प्रत्यक्ष और सरल रूप में संकेतात्मक भाषा (नोटेशनल लैंग्वेज) के द्वारा किया जाता है जबकि कविता विचारों को विरोधाभास और व्यंग्य के माध्यम से अप्रत्यक्ष और वक्र रूप में ऐसी भाषा में अभिव्यक्त करती है जो संकेतात्मक भाषा से बहुत दूर है।

कविता में छन्द के प्रति ब्रुक्स का बहुत अधिक आग्रह नहीं है जैसाकि उनके इस कथन से स्पष्ट होता है — "वस्तुतः कुछ लोग यह सोचने के अभ्यस्त हैं कि मुख्यतः लयात्मक भाषा का प्रयोग ही कविता को गद्य से पृथक् करता है। किंतु इस आधार पर किया गया अंतर अंततः मात्रा का ही हो सकता है, प्रकार का नहीं। यह बात प्रत्यक्षतः तब और सत्य जान पड़ती है जब हम सोचते हैं कि चाहे गद्य में हो अथवा कविता में, भाषा (सर्वत्र) स्वभावतः ही लय को अपने में समाहित किये रहती है।"[1] कविता में छंद के प्राधान्य के कारण कुछ लोग छंद को ही कविता मान बैठते हैं। ऐसा करते समय वे यह भूल जाते हैं कि छंद उन उपकरणों में से मात्र एक है जिनका उपयोग कवि अपने अभीष्ट प्रभाव की सिद्धि के लिए करता है।[2] कवि के द्वारा व्यवहार में लाये जाने वाले उपकरणों की सूची ब्रुक्स ने इस प्रकार दी है— छंद, विवरण, नाटकीय घटना, अलंकृत भाषा, शब्दों का तार्किक भाव, तथा शब्दों का साहचर्य।[3] छंद एक ऐसा उपकरण है जिसका प्रयोग एक कुशल कवि बलाघातों को नियंत्रित करने, विचारों के बीच संबंधों को रेखांकिन करने तथा विरोधों को संकेतित करने के लिए करता है।[4]

अन्य समीक्षकों की भाँति ब्रुक्स ने भी काव्य में सौंदर्यानुभूति को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। काव्य की इस अनुभूति को उन्होंने वास्तविक अनुभूति से एकदम पृथक् माना है; वास्तविक अनुभूति तो उन्हीं क्षणों की अनुभूति है जिन क्षणों में उसे भोगा जाता है। कविता में अवतरित होते ही वास्तविक अनुभूति का स्वरूप बहुत-कुछ परिवर्तित हो जाता है।

ब्रुक्स की धारणा है कि कविता अपना उद्देश्य आप है। उसमें किसी प्रकार के संदेश की खोज करना सर्वथा निष्फल ही होगा।

कविता की आलोचना के विषय में भी ब्रुक्स की विचारधारा ठीक वैसी ही अनाविल है जैसी कविता के रचना-तंत्र के विषय में। उनकी दृष्टि में

---

१. अंडरस्टैंडिंग पोइट्री, पृ० १२०
२. वही, पृ० १२२-२३
३. वही, पृ० १२३
४. वही, पृ० १२६

कविता एक अखंड इकाई है और उसकी समीक्षा भी उसके इसी अखंड रूप में ही होनी चाहिए। स्वयं ब्रुक्स ने मात्र कविता को ही सामने रखकर अनन्य भाव से उसकी आलोचना की है। कविता के प्रति उनकी इस एकतानता को जॉन एडवर्ड हार्डी ने उनकी समीक्षा का एक विलक्षण गुण माना है।[१]

कविता की आलोचना के लिए कविता के ही सूक्ष्म अध्ययन को ब्रुक्स आवश्यक मानते हैं। उनका कथन है कि लेखक के परिवेश का अध्ययन, अथवा पाठक पर पड़नेवाले प्रभाव का अध्ययन कविता को समझने में कुछ सीमा तक सहायक तो हो सकता है, किंतु अंततः कविता का ही पर्यवेक्षण वास्तविक साहित्यिक समीक्षा माना जायेगा। साथ ही अपने निबंध 'लिटरेरी क्रिटिसिज़्म : पोइट, पोइम, एंड रीडर' में उन्होंने यह भी लिखा है कि कवि के व्यक्तित्व तथा उसकी बौद्धिक पृष्ठभूमि का अध्ययन निश्चय ही फलदायी होगा। अंततः कविता है तो उसी व्यक्ति के मस्तिष्क और संवेदना की अभिव्यक्ति जिसने उसे लिखा है। इस प्रकार का अध्ययन रचनाकार की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा उसके युग की चेतना का परिचय होगा। किंतु केवल इसी प्रकार के अध्ययन पर ध्यान को केंद्रित करने का परिणाम यह भी हो सकता है कि हम कविता से कटकर लेखक के मनोविज्ञान, विचारों के इतिहास अथवा सांस्कृतिक इतिवृत्त में ही उलझकर रह जायें। इसलिए यह आवश्यक है कि हम लेखक की अनुभूति के विषय में केवल उतना भर जानें जितने भर को कविता में अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है।[२] अपने इसी अभिप्राय को उन्होंने अपनी विभिन्न समीक्षा-कृतियों के विभिन्न स्थलों पर व्यक्त किया है।[3]

ब्रुक्स ने पदान्वय को कविता की आलोचना का सबसे बड़ा रोड़ा स्वीकार किया है। यह पदान्वय कविता के संप्रेष्य को वहन करने में सर्वथा अशक्त है; यदि कविता के संप्रेष्य को कोई वहन कर सकता है तो वह स्वयं कविता ही।[४] उनका यह दृढ़ विश्वास है कि पदान्वय कविता का प्रतिनिधित्व करने

१ लुइस डी० रूबिन, जूनियर, तथा रॉबर्ट डी० जैकब्स-द्वारा संपादित सदर्न रिनासाँ : द लिटरेचर ऑफ़ द मॉडर्न साउथ, पृ० ४१३

२. शेल्डन नॉर्मन ग्रेब्स्टाइन-द्वारा संपादित पर्सपेक्टिव्स इन कॉन्टेंपोरेरी क्रिटिसिज्म, पृ० १०७

३. अंडरस्टैंडिंग पोइट्री, पृ० ५१५-१६; मॉडर्न पोइट्री एंड द ट्रेडिशन, भूमिका-भाग, पृ० ११-१२; द वेल रॉट अर्न, भूमिका-भाग, पृ० ६-१०; ए शेपिंग ज्वॉइ, भूमिका-भाग, पृ० १५

४. द वेल रॉट अर्न, पृ० ५८

में सर्वथा अक्षम है।[1] यह कोई एसा रैक नहीं है जिस पर कविता के लबादे को टाँगा जा सके।[2] कविता की संरचना को कविता के पदान्वय-द्वारा संकेतित करने का अर्थ है कविता से बाहर की किसी वस्तु का संकेत करना। यदि हम किसी कविता का पदान्वय करते हैं तो हम उस कविता को 'रूप' तत्त्व और 'संवेद्य तत्त्व' में विभक्त कर देते हैं जो सर्वथा अनुपयुक्त है। ऐसा करके हम कविता की आंतरिक व्यवस्था को भंग कर देते हैं। ब्रुक्स कविता का पदान्वय इसलिए भी असंभव मानते हैं कि कविता में प्रयुक्त होने के पश्चात् शब्द अपने कोशगत अर्थ को खोकर एक नया अर्थ धारण कर लेते हैं और इसीलिए इस नये अर्थ का व्यक्तीकरण उन शब्दों के पर्यायवाचियों के द्वारा कथमपि संभव नहीं है।

वैदुष्य को ब्रुक्स आलोचना का अनिवार्य उपकरण मानते हैं। उनका स्पष्ट अभिमत है कि कविता को समझने के लिए साहित्यिक समालोचना और साहित्यिक वैदुष्य एक-दूसरे के निसर्गतः सहायक हैं; बल्कि कुछ बिंदुओं पर तो दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।[3]

**विलियम एंपसन** (१९०६- ) : आई० ए० रिचर्ड्स के शिष्य, कवि और समीक्षक, इंग्लैंडवासी विलियम एंपसन ने शाब्दिक विश्लेषण की कला को व्यवस्था प्रदान कर आधुनिक आलोचना को बहुत बड़ा योग दिया है। विलियम एल्टन के शब्दों में, "आई० ए० रिचर्ड्स के शिष्य विलियम एंपसन अनेकार्थताओं के विश्लेषक हैं, और उन्होंने कविता के जटिल अर्थों का संधान कर व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में संभवतः सर्वोत्कृष्ट कार्य संपन्न किया है।"[4] यह बात अलग है कि उनके आलोचना-सिद्धांत कुछ उसी प्रकार दुरूह हैं जिस प्रकार उनकी कविता।

एंपसन अभी आई० ए० रिचर्ड्स के विद्यार्थी ही थे कि उन्होंने जे० ब्रॉनॉव्स्की के साथ मिलकर 'एक्सपेरिमेंट' (१९२८-१९२९) का संपादन किया। इसके बाद उनके समीक्षा-ग्रंथ प्रकाश में आने लगे। आलोचना के क्षेत्र में उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं—'सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी : ए स्टडी ऑफ़ इट्स एफ़ेक्ट्स ऑन इंग्लिश वर्स' (१९३०), 'सम वर्ज़ंस ऑफ़ पैस्टोरल'

---

१. द वेल रॉट अर्न, पृ० १३५, १६०
२. वही, पृ० १६२
३. शेल्डन नॉर्मन ग्रेब्स्टाइन-द्वारा संपादित पर्सपेक्टिव्स इन कॉन्टेंपोरेरी क्रिटिसिज़्म, पृ० १०६
४. अमेरिकन राइटिंग इन द ट्वेंटिएथ सेंचुरी, पृ० ३००

(१९३५), तथा 'द स्ट्रक्चर ऑफ़ कॉम्प्लेक्स वर्ड्स' (१९५१) और 'मिल्टन्'स गॉड' (१९६२)।

'सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी' एंपसन का सर्वाधिक लोकप्रिय समीक्षा-ग्रंथ है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि आज तक इसके पाँच से भी अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इस पुस्तक में एंपसन ने आलोचना की जिस प्रक्रिया को अपनाया है उस पर रिचर्ड्स की गहरी छाप है। उन्होंने पुस्तक का मुख्य विषय शाब्दिक विश्लेषण बताया है,[१] किंतु वास्तव में तो उनका मूल प्रतिपाद्य शब्दाधारित अनेकार्थता का वह सिद्धांत है जिसके पक्ष और विपक्ष में आंग्ल साहित्य में बड़ी ही प्रबल प्रतिक्रियाएँ देखने को मिलती हैं और इन्हीं प्रतिक्रियाओं के परिणाम-स्वरूप इसे बड़ी ख्याति प्राप्त हुई है। एंपसन ने इस ग्रंथ के आरम्भ में अनेकार्थता के स्वरूप की चर्चा करने के उपरांत उसके सात भेद किये हैं जिनकी व्याख्या द्वितीय अध्याय में की जायेगी।

'सम वर्ज़ंस ऑफ़ पैस्टोरल' में शब्दों के अर्थ-वैविध्य के स्थान पर रचना के समग्र अर्थ पर बल दिया गया है। 'सरलता की प्रशंसा' अथवा 'जटिल को सरल बनाकर प्रस्तुत करने' को एंपसन ने 'पेस्टोरल' कहा है। इस पुस्तक में व्यक्त विचारों पर मार्क्स तथा फ़्रायड का पर्याप्त प्रभाव है। लेखक ने यहाँ समाज के वर्गों का विश्लेषण करते हुए सर्वहारा वर्ग को महत्त्व दिया है। इस वर्ग के साहित्य में ऐसे लोक-साहित्य का समावेश माना गया है जो साहित्य जनता द्वारा, जनता के लिए और जनता के संबंध में हो।[२] साहित्य को एक सामाजिक प्रक्रिया मानते हुए एंपसन ने कहा है कि इसमें व्यक्ति के अंतर्विरोधों के सामंजस्य का प्रयत्न रहता है और इस व्यक्ति में समाज के अंतर्विरोध प्रतिफलित होते हैं। यहाँ एंपसन पर मार्क्सवाद इतना हावी हो गया है कि शेक्सपियर के सॉनेट तक की आलोचना मार्क्सवादी विचारधारा के ही आधार पर की गयी है। पुस्तक के अंत में फ़्रायड का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

'द स्ट्रक्चर ऑफ़ कॉम्प्लेक्स वर्ड्स' समय-समय पर लिखे गये एंपसन के इक्कीस निबंधों का संग्रह है। इन निबंधों में विभिन्न अवतरणों, और विशेष रूप से शब्दों, को लेकर काव्यात्मक भाषा की अनेकार्थताओं का अध्ययन किया गया है। यहाँ शाब्दिक विश्लेषण के प्रति बहुत अधिक आग्रह है। यही

---

१ सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, पृ० १

२. सम वर्ज़ंस ऑफ़ पैस्टोरल, पृ० ६

कारण है कि रेने वेलेक ने इस पुस्तक में साहित्यिक आलोचना को न पाकर, एक विशेष प्रकार के कोश को पाया है।[1] एंपसन ने पुस्तक के सारे विचारों का मूल स्रोत आई० ए० रिचर्ड्स को बताया है। यह बात अलग है कि पुस्तक के प्रथम निबंध में ही उन्होंने रिचर्ड्स-द्वारा प्रतिपादित भावात्मक काव्य-भाषा के सिद्धांत पर गहरी चोट की है।[2] रिचर्ड्स के साथ एंपसन के इस वैमत्य को विलियम के० विम्साट, जूनियर, तथा क्लिअंथ ब्रुक्स ने भी लक्षित किया है।[3] हालाँकि अपने एक अन्य निबंध 'इमोशंस इन पोइम्स' में एंपसन ने स्पष्ट कहा है कि कविताओं को शुद्ध कला मानकर यह सिद्धांत स्थापित करना बुरा होगा कि कविताओं का भावों से कोई संबंध नहीं है।[4]

एंपसन कविता को एक अखंड इकाई मानते हैं। उन्होंने यह मानने से साफ़ इन्कार कर दिया कि कविता को रूप-तत्त्व और संवेद्य-तत्त्व के रूप में विलगाकर देखा जा सकता है और जो समीक्षक ऐसा करते हैं वे कविता-रूप इकाई की समग्रता पर प्रहार करते हैं।

एंपसन की मान्यता है कि कविता का उद्देश्य विश्लेष्य व्याकरणसंगत अर्थों को देना नहीं है, अपितु वह तो एक 'मन:स्थिति', एक 'वातावरण', एक 'व्यक्तित्व', जीवन की एक अभिवृत्ति, अस्तित्व की एक अविभक्त रीति को प्रस्तुत करती है।[5] वातावरण के प्रति तो उनका इतना अधिक आग्रह है कि समग्र कविता की अलोचना करते समय वे वातावरण के स्मरण को आलोचक के लिए बहुत अधिक आवश्यक मानते हैं।[6] वातावरण से उनका अभिप्राय अर्थ के द्वारा उपलक्षित तत्त्व की चेतना से है।[7]

कविता की व्याख्या अथवा पदान्वय को एंपसन असंभव मानते हैं। उनकी धारणा है कि कवि जिन शब्दों का प्रयोग करता है, संदर्भगझिन होकर वे शब्द अन्य पर्यायवाची शब्दों के द्वारा अनाख्येय हो जाते हैं और ऐसी स्थिति में ऐसी किसी भी व्याख्या की कल्पना नहीं की जा सकती जो कविता को उसकी समग्रता के साथ प्रस्तुत कर सके। अथवा, ऐसा कोई कथन नहीं

---

१. कॉन्सेप्ट्स ऑफ़ क्रिटिसिज्म, पृ० ५६
२. द स्ट्रक्चर ऑफ़ कॉम्प्लेक्स वर्ड्स, पृ० ५-६
३. लिटरेरी क्रिटिसिज्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री, पृ० ६४०
४ जॉन क्रो रैंसम-द्वारा संपादित द केन्यन क्रिटिक्स, पृ० १२८
५. सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, पृ० १७
६. वही, पृ० १७
७. वही, पृ० १८

हो सकता जो कविता के अभिप्रायों को अविकल रूप में उद्घाटित कर सके।[1]

**नये समीक्षकों में पारस्परिक साम्य-वैषम्य :** अब तक नये समीक्षकों का जो समालोचनात्मक परिचय दिया गया है उससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि नये समीक्षकों की अनेक रुचियाँ और अरुचियाँ समान हैं — सभी नये समीक्षक कलाकृति के पर्यवेक्षण में ऐतिहासिक, जीवनीपरक तथा साहित्यिक पृष्ठभूमि को नकारते हैं; सभी कलाकृति की अखंडता को स्वीकार करते हैं; सभी प्रभाववादी और रोमानी आलोचना के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करते हैं; प्रायः सभी नवमानवतावादी आंदोलन से विक्षुब्ध हैं। तथापि इन आलोचकों को नयी समीक्षा के घेरे में खड़े करने का यह अर्थ क़तई नहीं है कि इन सबने मिलकर आलोचना की किसी सर्वमान्य प्रक्रिया को जन्म दिया है, अपितु इन सबकी समीक्षा-दृष्टि एक-दूसरे से बहुत-कुछ भिन्न है। रॉबर्ट पेन वारेन का तो यहाँ तक कहना है कि नये समीक्षक, जिनका उल्लेख एक वर्ग के रूप में किया जाता है और जिन पर एक लेबल चस्पा करके जिन्हें साथ-साथ एक बाड़े में बन्द कर दिया जाता है, अपनी समानताओं की अपेक्षा असमानताओं के लिए अधिक अवेक्षणीय हैं। यदि उनमें कुछ साम्य है तो वह यही कि उनके शत्रु समान हैं।[2] नये समीक्षकों के दृष्टि-भेद को नयी समीक्षा के स्तंभ-रूप क्लिअंथ ब्रुक्स-जैसे आलोचक ने भी लक्षित किया है, "इस बात को पहचानना काफ़ी है कि नये आलोचकों के बीच बहुत-सी बातों के बारे में परस्पर सहमति है। परंतु वे किसी संप्रदाय का संघटन नहीं करते — संघ का तो और भी नहीं। उनके बलाघातों के वैविध्य को या उनकी सक्रिय असहमतियों को मैं कम करके प्रस्तुत करने की इच्छा नहीं रखता। वस्तुतः यह भी एक सवाल है कि एक सामान्य संज्ञा के द्वारा क्या उनका सही बयान किया जा सकता है, और विशेषकर नयी आलोचना के नाम से, जिस (नाम) का प्रचलन बहुत हो गया है।"[3] कुछ इसी प्रकार का मत रेने वेलेक का भी है जब वे कहते हैं कि नये समीक्षकों के पारस्परिक वैषम्यों को जाने बिना यह समझना बड़ा ग़लत होगा कि वे किसी एक 'संप्रदाय' का, यहाँ तक कि किसी गुट का भी निर्माण करते हैं।[4] जॉन पाल

---

१. सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, पृ० ६
२. सेलेक्टेड एसेज़, भूमिका-भाग, पृ० १२
३. डॉ० निर्मला जैन-द्वारा संपादित नयी समीक्षा के प्रतिमान, पृ० २३
४. कॉन्सेप्ट्स ऑफ़ क्रिटिसिज़्म, पृ० ३०७

प्रिचर्ड की शब्दावली में भी, "वे (नये समीक्षक) अपनी धारणाओं में किसी भी प्रकार एकमत नहीं हैं।"[1]

नये समीक्षक एकमत न हों, यहाँ तक तो आपत्ति के लिए कोई विशेष अवकाश नहीं है। आपत्ति की बात तो तब उठती है जब वे एक-दूसरे पर प्रहार करने लगते हैं — जॉन क्रो रैंसम की दृष्टि में टी० एस० इलियट एक ऐतिहासिक समीक्षक हैं जिनकी दृष्टि कृति पर न होकर कृतिकार को परंपरा में देखने पर है; उनका झगड़ा रिचर्ड्स से भी इस बात पर है कि वे वक्रता को कविता का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते हैं; एलेन टेट और रैंसम, दोनों ही रिचर्ड्स के काव्यार्थ-विश्लेषण से असहमत हैं; रैंसम तथा ब्रुक्स जहाँ कविता के पदान्वय को एकदम बकवास मानते हैं वहाँ ईवोर विंटर्स का यह दृढ़ अभिमत है कि यदि कविता को पदान्वय में परिवर्तित नहीं किया जा सकता तो वह कविता ही नहीं है; अधिकांश नये समीक्षक यदि कविता का उद्देश्य कविता को ही स्वीकार करते हैं — उससे इतर और कुछ भी नहीं तो एफ़० आर० लीविस, इवोर विंटर्स तथा आर० पी० ब्लैकमर की दृष्टि में कविता का मूल प्रयोजन नैतिकता की शिक्षा देना है; इसी प्रकार ब्रुक्स जहाँ मात्र कृति को ही समग्र रूप में देखने-परखने पर बल देते हैं, वहाँ ब्लैकमर कृति को, केवल नैतिकता के ही नहीं, वरन् समाज के परिवेश में भी निरखते-परखते हैं।

बात यहीं पर आकर नहीं रुक जाती है प्रत्युत वह और आगे बढ़ती है और तब हम देखते हैं कि उनके कविता के प्रतिमान भी एक नहीं हैं — एक 'शब्द-विधान' को; दूसरा 'प्रतीक' को; तीसरा 'तनाव' को; चौथा 'भंगिमा' को; पाँचवाँ 'विरोधाभास' को; तो छठा 'अनेकार्थता' को काव्य-निकष स्वीकार करता है। इन समीक्षकों के पारस्परिक स्वर-असादृश्य पर प्रकाश डालते हुए रॉबर्ट ई० स्पिलर ने लिखा है कि रैंसम में अभिव्यक्ति का पहेलीनुमा दरबारीपन है; ब्लैकमर लेखक के व्यवसाय के दाँव-पेच के अनुसंधान में आमोद का अनुभव करते हैं; टेट में अम्लता और उत्ताप का मिश्रण है; ब्रुक्स में पांडित्यपूर्ण विश्वासोत्पादकता है; रॉबर्ट पेन वारेन में सादृश्य का गोपनशील प्रयोग है; केनेथ बर्क में मनोविज्ञान, साहित्यशास्त्र और रूप-तत्त्व के पारस्परिक संबंधों की जटिल चर्चा अनेक आधुनिक प्रवृत्तियों के मौलिक विकास की परिचायक है; ईवोर विंटर्स का इलियट की कविता और आलोचना

---

१. क्रिटिसिज़्म इन अमेरिका, पृ० २३३

पर प्रहार, तथा कविता की तर्कसंगत संरचना के प्रति उनका आग्रह एक अलग प्रकार के ही आधुनिक आभिजात्यवाद का दिग्दर्शन कराते हैं।[1]

रेने वेलेक ने नये समीक्षकों की पारस्परिक विषम विचारधाराओं को दृष्टिपथ में रखते हुए उन्हें दो वर्गों में रखा है : एक वर्ग में वे समीक्षक आते हैं जिन्होंने सभी प्रकार के ज्ञान, विशेषतः मनोविश्लेषणशास्त्र, मार्क्सवाद, एवं हाल ही में नृविज्ञान, को साहित्य पर अधिकाधिक लाद दिया है; और दूसरे वर्ग में वे समीक्षक आते हैं जिन्होंने साहित्य का अध्ययन मुख्यतः एक सौंदर्यपरक तथ्य के रूप में करने का प्रयास किया है। प्रथम वर्ग के समीक्षकों ने साहित्यिक कृति को मानव और विश्व, व्यष्टि और समष्टि के संदर्भ में देखा है; जबकि दूसरा वर्ग सूक्ष्म विश्लेषण की प्रविधियों का अभ्यास करता हुआ साहित्य के अहाते में ही रहा है। किंतु द्वितीय वर्ग के समीक्षकों को भी "सौंदर्यवाद" यहाँ तक कि "रूपात्मकवाद" से भी चिपकाना भूल ही जान पड़ती है। इनमें से एक भी "सौंदर्यवादी" नहीं है; क्योंकि उनके समीक्षा-प्रतिमानों में सर्वत्र एक दार्शनिक, राजनीतिक और धार्मिक विचारधारा निहित है। दाक्षिणात्य वर्ग आज की नागरिक और औद्योगिक सभ्यता, तथा परंपरा पर इसके प्रभाव की समस्या से जूझ रहा है। यद्यपि वे प्रत्यक्षतः अनेकार्थताओं एवं विरोधाभासों-जैसी काव्यात्मक प्रतीत होने वाली युक्तियों के आधार पर कलाकृति को देख रहे होते हैं तथापि उनका उद्देश्य सामान्य मूल्य, सुसंगति और कलाकृति की परिपक्वता की चर्चा करना होता है। दूसरे शब्दों में, वे ऐसे मूल्यों की बात करते हैं जो मानवीय और सामाजिक होते हैं। वे कला-जगत् (जो कि मानवता से अलग नहीं है) को विचार और नीतिशास्त्र के जगत् से मिलाना नहीं चाहते, और समझते हैं कि एक साहित्यिक कृति का अर्थ उसकी रूपात्मक पूर्णता से ही निकलता है।[2]

निष्कर्ष यह है कि मूलतः ऐतिहासिक आलोचना के रोमानी दृष्टिकोण के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप नयी समीक्षा का जो आंदोलन उभरकर सामने आया और जिसकी पृष्ठभूमि एस० टी० कोलरिज, टी० ई० ह्यूम, टी० एस० इलियट, आई० ए० रिचर्ड्स प्रभृति समर्थ समीक्षकों के समीक्षा-सिद्धांतों से पुष्ट हुई है उसने जॉन क्रो रैंसम, एफ़० आर० लीविस, केनेथ बर्क, एलेन टेट, ईवोर विंटर्स, आर० पी० ब्लैकमर, रॉबर्ट पेन वारेन, क्लिअंथ ब्रुक्स तथा विलियम एंपसन-जैसे प्रतिभाशाली समालोचकों के चिंतन और मनन का योग पाकर एक

---

१, ए टाइम ऑफ़ हार्वेस्ट, पृ० १०७

२. कॉन्सेप्ट्स ऑफ़ क्रिटिसिज़्म, पृ० ३०८-३०९

अत्यंत शक्तिमयी समीक्षा-पद्धति के रूप में आधुनिक आंग्ल साहित्य के पृष्ठों को आच्छादित कर लिया है। यह ठीक है कि इन समीक्षाशास्त्रियों की विचारणा का मार्ग कहीं-कहीं भिन्न लक्षित होता है, किंतु सभी का गंतव्य एक है, और वह है साहित्यिक कृति की गंभीर मीमांसा। और फिर वैमत्य तो मनीषियों और विपश्चितों का लक्षण है—'नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।'

२

# काव्य-सिद्धांत

मानव प्रकृत्या संवेनशील प्राणी है — बड़े-से-बड़े बुद्धिवादी व्यक्ति के भी जीवन में कभी-कभी कुछ क्षण ऐसे अवश्य आते हैं जब वह संवेदनशील और भावुक हो उठता है। कलाकार में तो संवेदनशीलता का क्षितिज सामान्य मानव की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक होता है। वल्कि उसकी कला की उत्कृष्टता की निर्णायिका उसकी संवेदना की यही व्यापकता होती है — जिस कलाकार की संवेद-शक्ति जितनी अधिक दूरगामिनी सीमाओं का स्पर्श करती है वह उतना ही अधिक महान् होता है। ऐसी स्थिति में यह संभव नहीं कि कलाकार अपने परिवेश से असंपृक्त रहकर कला की सर्जना कर सके — वह परिवेश के दवाव का निरंतर बड़ी वेचैनी से अनुभव करता है। अपनी कला के माध्यम से वह उसी को रूपायित करता है। यह परिवेश चिरपरिवर्तनशील है और परिवेश की इसी परिवर्तनशीलता के परिणाम-स्वरूप कला की अभिव्यक्ति के रूपों में बदलाव आया करता है। कला के इन बदलते हुए रूपों की मीमांसा समीक्षक का कर्त्तव्य है। किंतु कभी-कभी यह समीक्षक कला-समीक्षा के पूर्वप्रतिष्ठापित प्रतिमानों को निरंतर परिवर्तनशील कला के विवेचन में अनुपयुक्त पाता है और तव उसे नये प्रतिमानों का संधान करना पड़ता है। बीसवीं शताब्दी में आकर कलाओं, विशेषतः साहित्य, ने इतने मोड़ लिए हैं कि उनकी परख के लिए विभिन्न प्रतिमानों की एक वाढ़-सी आ गयी है — यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, मनोविश्लेषणवाद, चेतना-प्रवाहवाद, प्रतीकवाद, विंववाद, प्रभाववाद, अभिव्यंजनावाद, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, नयी समीक्षा. शिकागो समीक्षा आदि समीक्षा-सिद्धांत नये प्रतिमानों को तलाशने के ही फलस्वरूप अस्तित्व में आये हैं।

यद्यपि यह सच है कि उक्त समीक्षा-सिद्धांतों में से नयी समीक्षा का जन्म ऐतिहासिक आलोचना के विरुद्ध कतिपय समीक्षकों की तीव्र प्रतिक्रिया का परिणाम है तथापि यह भी उतना ही सच है कि प्रथम महासमर के छिड़ते-न-छिड़ते आंग्ल साहित्य में ऐसे काव्य की रचना आरंभ हो चुकी थी

जिसका आख्यान और मूल्यांकन अरस्तू, पुनर्जागरणयुगीन समीक्षकों आदि के द्वारा व्यवहृत समीक्षा-शब्दावली एवं सिद्धांतों के द्वारा अशक्य हो चला था। (यदि ये सिद्धांत एकदम पुराने नहीं पड़ गये थे तो कम-से-कम इनके पुनराख्यान की आवश्यकता अवश्य हो गयी थी।) परिणामतः इंग्लैंड और अमेरिका में नवसंज्ञ समीक्षकों का एक ऐसा वर्ग उभरा जिसने काव्य-कृति के विवेचन-विश्लेषण के लिए नयी शब्दावली और नये सिद्धांतों की उद्भावना की। यों तो इन सभी का बल भाषा-विश्लेषण के सहारे केन्द्र (कृति) के आलोकन पर है, किंतु इस आलोकन के लिए इन्होंने मार्ग पृथक्-पृथक् अपनाये हैं। कहने का तात्पर्य यह कि नयी समीक्षा के एक ही घेरे में खड़े होने पर भी इन समीक्षकों ने पारस्परिक मान्य किसी एक ही सिद्धांत की कल्पना नहीं की, अपितु लगभग सभी ने अपने भिन्न सिद्धांत का प्रवर्तन किया है। यह बात अलग है कि इनके सिद्धांत कहीं-न-कहीं जाकर एक-दूसरे से जुड़ जाते हैं। सामान्यतः प्रत्येक समीक्षक का अपना एक सिद्धांत है और इसीलिए इनकी संज्ञा एकलवादी समीक्षक हैं। प्रस्तुत अध्याय का विषय इन्हीं सिद्धांतों का विवेचन-विश्लेषण है।

## रैंसम का 'शब्द-विधान'[१]

रैंसम के मतानुसार, शिथिल तार्किक 'अर्थ-विधान'[२] एवं असंबद्ध स्थानिक 'शब्द-विधान' की अन्विति ही कविता है।[3] अर्थ-विधान की तार्किकता में जो दृढ़ता विज्ञान में परिलक्षित होती है वह कविता में नहीं। इसलिए उन्होंने कविता के अर्थ-विधान को शिथिल कहा है। कविता के दूसरे अवयव शब्द-विधान को भी उन्होंने असंबद्ध माना है। उनकी दृष्टि में असंबद्धता किंवा विषमता कविता का मूलभूत वैशिष्ट्य है।[४]

अब प्रश्न यह है कि रैंसम जिस अर्थ-विधान और जिस शब्द-विधान की अन्विति को कविता की संज्ञा देते हैं वे हैं क्या? विषय-वस्तु की दृष्टि से उन्होंने कविता के दो भेद किये हैं—वस्तु-काव्य, और विचार-काव्य।

---

१. टेक्सचर

२. स्ट्रक्चर

३. (अ) द न्यू क्रिटिसिज्म, पृ० २८०
   (आ) मॉर्टन डाउवेन जाबेल-द्वारा संपादित लिटरेरी ओपिनियन इन अमेरिका, द्वितीय खंड, पृ० ६४८

४. द न्यू क्रिटिसिज्म, पृ० १३०

आधुनिक कविता को शुद्ध कविता स्वीकार करते हुए उन्होंने उसे वस्तु-काव्य का नाम दिया है और साथ ही विचार-काव्य पर उसकी वरीयता प्रतिपादित की है। उनका मंतव्य है कि कवि की चेतना में वस्तु-काव्य का उद्भव विशुद्धावस्था में नहीं हुआ करता; उसका जन्म तो एक विचार के रूप में हुआ करता है। ऐसा कभी नहीं होता कि यह विचार उससे पूर्णत: पृथक् हो जाय। हाँ, इतना अवश्य है कि कवि जब काव्य के जनकभूत इस विचार पर मनन कर रहा होता है तब इस मनन के परिणामस्वरूप उसकी चेतना में एक विंब उद्‌बुद्ध होता है और यह विंब उस विचार को इस प्रकार आच्छादित कर लेता है कि काव्य-सृष्टि की प्रक्रिया के अंतिम चरण तक पहुँचते-पहुँचते वह विचार कवि को लगभग विस्मृत हो चुका होता है। रैंसम ने इसी विंब को शब्द-विधान और विंब के कारणभूत इस विचार को अर्थ-विधान नाम दिया है।

यदि हम बड़े ही सपाट शब्दों का आश्रय लें तो कह सकते हैं कि कविता के अर्थ-विधान से रैंसम का अभिप्राय उसके कथानक, उसकी विषय-वस्तु, उसके पदान्वययोग्य कथ्य से है, तथा शब्द-विधान में वे सभी तत्त्व अंतर्भुक्त हैं जो कविता को कलात्मकता प्रदान करते हैं — कविता का स्वर, उसकी लय, उसके विंब, ये सभी शब्द-विधान के ही अंग हैं। क्लिअंथ ब्रुक्स तथा रॉबर्ट पेन वारेन ने भी शब्द-विधान के विषय में इसी आशय की बात कही है।[1] रैंसम ने शब्द-विधान को स्पष्ट ही काव्य-सौंदर्य का पर्याय माना है।[2]

रैंसम ने 'स्ट्रक्चर' तथा 'टेक्स्चर' इन दोनों शब्दों को वास्तुकला से ग्रहण किया है और इसीलिए उन्होंने 'अर्थ-विधान' तथा 'शब्द-विधान' के अंतर को एक कमरे का रूपक बाँधकर बड़ी खूबी से समझाया है — "मेरे कमरे की दीवारें स्पष्ट ही इसका (कमरे का) ढाँचा हैं; इसमें लगे हुए शहतीर तथा तख़्तों का भी एक कार्य है; इसी प्रकार उस प्लास्टर का भी प्रयोजन है जो अपने अंतिम रूप को प्राप्त दीवार का एक दृश्यमान पक्ष है। यह प्लास्टर नंगा भी रह सकता था — ऐसा जो अपना कोई विशिष्ट स्वरूप न बना पाता और जो मात्र अपना कार्य करके रह जाता। किंतु वास्तव में उस पर पेंट किया जा चुका है जिससे उसमें रंग आ गया है, अथवा उसे काग़ज़ से ढँका जा चुका है जिससे उसमें रंग और बनत, दोनों ही आ गये हैं — यद्यपि ढाँचे की दृष्टि से इन चीज़ों का कोई मूल्य नहीं है; और उस पर संभवत: "सजावट"

१. अंडरस्टैंडिंग पोइट्री, पृ० ३४३
२. द न्यू क्रिटिसिज़्म, पृ० ५५

के लिए चित्रपट या रंगचित्र लटकाये गये हैं। यहाँ पेंट, काग़ज़ और चित्रपट बनावट (टेक्स्चर) हैं। तार्किक दृष्टि से ढाँचे के साथ इनका कोई संबंध नहीं है। किंतु मैंने यहाँ पर वास्तुकला से संवद्ध बनावट की कुछ ही संभावनाओं का संकेत दिया है। कविता में ये संभावनाएँ वास्तुकला की अपेक्षा कम नहीं हैं।"[1]

स्पष्टत: यहाँ कमरा कविता है; कमरे की दीवारें, शहतीर, तख़्ते और प्लास्टर अर्थ-विधान हैं; तथा प्लास्टर के ऊपर का पेंट, काग़ज़, चित्रपट और रंगचित्र शब्द-विधान हैं। जिस प्रकार दीवारों की उपयुक्त साज-सज्जा के बाद ही कमरे का रूप निखरता है उसी प्रकार शब्द-विधान से रंजित होकर ही अर्थ-विधान कविता के रूप को उभारता है। इसीलिए रैंसम के अनुसार एक अच्छे आलोचक को चाहिये कि वह कविता की परख और उसकी व्याख्या कविता के अर्थ-विधान एवं शब्द-विधान के ही संदर्भ में करे।[2] कविता के इन दोनों पक्षों में से भी उनका बल उसके शब्द-विधान पर ही अधिक है। इसीलिए वे कहते हैं कि यदि आलोचक कविता के शब्द-विधान पर कुछ भी प्रकाश नहीं डालता तो वह उसे कविता के रूप में नहीं, अपितु गद्य के रूप में देख रहा है।[3]

डॉ० राजकुमार कोहली ने रैंसम की शब्द-विधान और अर्थ-विधान से संवद्ध धारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"कविता के शब्द-विधान में विपुल स्थानिक मूल्यों और वस्तुत्व-संपन्न वस्तुओं तथा व्यष्टित्व-संपन्न व्यष्टियों का समावेश है। अर्थ-विधान कविता का तर्कक्रम अथवा उसकी युक्तिसंगत तथा व्याख्येय अंतर्वस्तु है। दूसरे शब्दों में, अर्थ-विधान कविता का वह गद्यांश है जो उसे रूपाकार प्रदान करता है और नियम-निर्देश देकर संवेदी सामग्री के उस संयोजन को नियंत्रित करता है। विज्ञान का वस्तुत: कोई शब्द-विधान होता ही नहीं—वह मात्र अर्थ-विधान से संतुष्ट रहता है और अमूल्य वैशिष्ट्य उसका अभिव्यक्ति-विषय नहीं है। इसके विपरीत, कविता में शब्द-विधान और अर्थ-विधान दोनों होते हैं। ज्ञान की एक विधि अथवा संज्ञान के रूप में काव्य के आग्रही रैंसम ने इस प्रकार काव्य के उस सिद्धांत की स्थापना की है जिसे काव्य के 'द्विकेंद्रीय' संज्ञानात्मक सिद्धांत

---

१ मॉर्टन डाउवेन ज़ाबेल-द्वारा संपादित लिटरेरी ओपिनियन इन अमेरिका, द्वितीय खंड, पृ० ६४८

२. वही, पृ० ६४८

३. वही, पृ० ६४८

("बिओ-फ़ोकल" कॉग्निटिव थ्योरी ऑफ़ पोइट्री) की संज्ञा दी जा सकती है। इसका आशय यह है कि काव्य अपने अर्थ-विधान और शब्द-विधान से क्रमशः विश्वजनीनों का ज्ञान और विशिष्टों का ज्ञान प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से काव्य विज्ञान से श्रेष्ठ है क्योंकि अर्थ-विधान की उपस्थिति तथा शब्द-विधान की अनुपस्थिति के कारण विज्ञान केवल अमूर्त्तों के विश्व का ही प्रतिबिंबन कर पाता है।"[१]

शब्द-विधान और अर्थ-विधान में अंतर जान लेने के उपरांत अब विचारणीय यह है कि कविता में इन दोनों का कार्य क्या है अथवा ये किस प्रकार पारस्परिक सहयोग के द्वारा कविता को अस्तित्व में लाते हैं। रैंसम ने वैशिष्ट्य को कविता के शब्द-विधान का मूल गुण स्वीकार किया है।[२] शब्द-विधान के इस वैशिष्ट्य को तार्किक अर्थ-विधान निरंतर अवलंब देता है। कविता की उत्कृष्टता अर्थ-विधान के द्वारा समर्थित स्थानिक शब्द-विधान पर निर्भर करती है। जहाँ अर्थ-विधान कविता को रूपायित करता है, उसका विवरण प्रस्तुत करता है, उसे व्यवस्था प्रदान करता है, वहाँ शब्द-विधान का संबंध भले ही कविता की तार्किकता से न हो, किंतु वह उसके रूप को प्रभावित करता है, उसके तर्क को गति प्रदान करता है। कविता का अर्थ-विधान जहाँ हमें सार्वभौम की जानकारी देता है, वहाँ उसका शब्द-विधान वैशिष्ट्यों का का ज्ञान प्रदान करता है। विज्ञान में शब्द-विधान की स्थिति नहीं होती; क्योंकि वहाँ तो सार्वभौम का ही ज्ञान संचित रहता है, वैशिष्ट्य के लिए कोई अवकाश ही नहीं है।

रैंसम ने कविता में शब्द-विधान का जो महत्त्व प्रतिपादित किया है उसको उद्घाटित करते हुए प्रो० पी० एस० शास्त्री लिखते हैं—"कला में प्रयुक्त स्वच्छंद और अप्रत्याशित अर्थ-साहचर्य वैज्ञानिक मनोवृत्ति वाले के लिए तो असंगतियाँ हैं परंतु जिसकी आत्मा वैज्ञानिक क्रियाकलाप की दैनंदिन एकरसता में नास्तिक कृपण स्वामी की सेवा की चेतना से, दब-मर चुकी है उसके लिए बड़े रंजनकारी हैं। इन साहचर्यों का संबंध कविता के शब्द-विधान से है; और काफ़ी सीमा तक वास्तविक काव्य-गुण का अन्वेषण शब्द-विधान में ही किया जा सकता है।"[३]

---

१. समन्विति, वर्ष १, अंक १ (अगस्त ७३—जनवरी ७४), पृ० ५६-५७

२. द न्यू क्रिटिसिज़्म, पृ० २५

३. समन्विति, वर्ष १, अंक १ (अगस्त ७३—जनवरी ७४), पृ० २५

**निष्कर्ष :**

रैंसम के शब्द-विधान को प्रस्तुत करते हुए अब तक जो कुछ कहा गया है उसके निष्कर्षस्वरूप निम्नांकित प्रमुख तथ्य उभरकर सामने आते हैं—

१. कविता शब्द-विधान और अर्थ-विधान की अन्विति है, किंतु सर्जना की प्रक्रिया में शब्द-विधान अर्थ-विधान को अभिभूत कर लेता है।

२. शब्द-विधान काव्य-सौंदर्य का पर्याय है।

३. विशेष शब्द-विधान, प्रकारांतर से, कविता का सहज गुण है।

४. अर्थ-साहचर्य कविता के शब्द-विधान से अनिवार्यतः संबद्ध है।

**विवेचन :**

१. जहाँ तक शब्द-विधान और अर्थ-विधान की अन्विति को कविता मानने का प्रश्न है उसके विषय में तो पाश्चात्य और पौरस्त्य आचार्यों में से एक के लिए भी विप्रतिपत्ति का कोई अवकाश नहीं है। पश्चिम में अरस्तू से लेकर टी० एस० इलियट तक सभी समालोचक शब्दार्थ की संपृक्ति को काव्य मानते रहे हैं। अरस्तू के अनुसार, 'काव्य भाषा के माध्यम से (जो गद्य तथा पद्य दोनों ही हो सकती है) प्रकृति का अनुकरण है'।[1] यह प्रकृति जीवन का ही, काव्यशास्त्र की शब्दावली में अर्थ का ही, पर्याय है। इलियट ने भी 'भावानुभूति, भाव अथवा दृष्टि से समन्वित सर्वोत्तम छंदों में सर्वोत्तम ढंग से विन्यस्त शब्दों को काव्य' स्वीकार किया है।[2] यह भावानुभूति, भाव अथवा दृष्टि भी अर्थेतर अन्य कुछ नहीं है। इधर पौरस्त्य आचार्यों में भामह से लेकर डॉ० नगेन्द्र तक सभी ने बड़े ही निस्संकोच भाव से शब्द और अर्थ को काव्य का मूलाधार माना है। भामह के विचार से सहित रूप में विद्यमान शब्द और अर्थ काव्य हैं— "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।"[3] कुंतक वक्रोक्तिमय बंध में सहभाव से व्यवस्थित शब्द तथा अर्थ को काव्य मानते हैं— "शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि बंधे व्यवस्थितौ काव्यम्"।[4] मम्मट की दृष्टि में दोष-हीन, गुणयुक्त और कहीं-कहीं अनलंकृत भी शब्दार्थ का नाम काव्य है— "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"।[5] विश्वनाथ उस वाक्य को

---

१. डॉ० नगेन्द्र-द्वारा संपादित अरस्तू का काव्य-शास्त्र, भूमिका-भाग, पृ० २६

२. द सेक्रेड वुड, १९२८ के संस्करण का भूमिका-भाग, पृ० ९-१०

३. काव्यालंकार, १.१६

४. वक्रोक्तिजीवितम्, १.७

५. काव्यप्रकाश, १.४

काव्य स्वीकार करते हैं जो रसात्मक हो—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।"[1] यहाँ 'वाक्य' निश्चय ही शब्द का, और 'रस' अपने व्यंजक अर्थ का परिचायक है। पण्डितराज जगन्नाथ का भी आग्रह उस शब्द को काव्य मानने के प्रति है जो रमणीय अर्थ का प्रतिपादक हो—"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"।[2] आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी काव्य को परिभाषित करते हुए लिखा है—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं....."।[3] इधर आचार्य नगेंद्र ने भी उसी व्यक्ति को कवि माना है जो भाषा के भावमय प्रयोग में सक्षम हो।[4] शुक्ल जी के 'भावयोग' में और डॉ० नगेंद्र के 'भाव' में अर्थ का आक्षेप स्वभावतः ही है; क्योंकि अर्थ के अभाव में भावोद्‌बुद्धि संभव ही नहीं है। सारांश यह कि पश्चिम और पूर्व में समीक्षा-शास्त्र का ऐसा एक भी वेत्ता नहीं है जो शब्द और अर्थ के समवाय को काव्य न स्वीकार करता हो। इस प्रकार रैंसम की इस मान्यता से तो किसी को विरोध नहीं है कि कविता शब्द-विधान और अर्थ-विधान की अन्विति है, प्रत्युत उनकी इस मान्यता को तो प्रत्येक काव्यशास्त्री का समर्थन प्राप्त है।

अब बात आती है काव्य में इन दोनों तत्त्वों के तारतम्य की। रैंसम ने तो बड़े ही प्रबल शब्दों में शब्द-विधान के द्वारा अर्थ-विधान को अभिभूत कर लिए जाने की बात कही है। उनकी यह धारणा निश्चित रूप से नये समीक्षक की उस मनोवृत्ति का परिणाम है जो काव्य-भाषा के प्रति उसके अगाध मोह को व्यक्त करती है अन्यथा उनकी यह धारणा एक भी तो आचार्य के द्वारा समर्थित नहीं है। सामान्यतया समीक्षा-जगत् में या तो भाषा पर अर्थ को तरजीह दी गयी है-या फिर दोनों के सामंजस्य को अनिवार्य माना गया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के जनक अरस्तू ने तो कथावस्तु को त्रासदी का प्राण-तत्त्व घोषित कर[5] निःसंकोच भाव से भाषा की अपेक्षा अर्थ को अधिक महत्त्व-

१. साहित्यदर्पण, १.३
२. रसगंगाधर, १.१
३. (अ) रस-मीमांसा, पृ० ५-६
(आ) चिंतामणि, प्रथम भाग, पृ० ११३
४. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ५४
५. आर० ए० स्कॉट-जेम्स-लिखित द मेकिंग ऑफ़ लिटरेचर, पृ० ६२

पूर्ण माना है। भारत में भी सभी रसवादी चिंतकों ने रस को काव्य की आत्मा मानकर भाषा को रससिद्धि का मात्र माध्यम स्वीकार किया है। अनेक आचार्य ऐसे भी हैं जो शब्द और अर्थ के सामंजस्य को काव्य का विधायक मानते हैं। काव्य-लक्षण में भामह, कुंतक आदि के द्वारा प्रयुक्त 'सहित' शब्द डंके की चोट पर शब्द और अर्थ के सामरस्य की घोषणा कर रहा है। वस्तुतः यदि शब्द अर्थ पर हावी हो जायेगा तो कविता असंदिग्ध रूप से अपनी सार्थकता खो बैठेगी; क्योंकि उस स्थिति में कविता केवल शब्दाडंबर भर रह जायेगी। उत्कृष्ट काव्य में तो शब्द और अर्थ, दोनों अहमहमिकया उपस्थित होते हैं। इसलिए रैंसम का यह मंतव्य नितांत भ्रामक है कि कविता में शब्द-विधान ही प्रमुख है और अर्थ-विधान की स्थिति एकदम नगण्य है।

२. रैंसम के यहाँ शब्द-विधान समग्र काव्य-सौंदर्य का पर्याय बनकर व्यवहृत हुआ है। इसके अंतर्गत अलंकार, छंद आदि भाषा के सारे उपकरण आ जाते हैं। उनके मतानुसार यह शब्द-विधान, प्रकारांतर से सौंदर्य, ही विज्ञान और कविता का विभेदक तत्त्व है — यदि विज्ञान में इसका राहित्य है तो कविता में इसका साहित्य।[1] देहात्मवादी समीक्षकों में यह धारणा नयी नहीं है। संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकारवादियों का एक बड़ा लम्बा-चौड़ा संप्रदाय है जिन्होंने अलंकार को काव्य के लिए अपरिहार्य बताकर उसे सौंदर्य-रूप माना है। वामन के मत में काव्य अलंकारों से ही ग्राह्य होता है और अलंकार काव्य-सौंदर्य का ही अपराभिधान हैं — "काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौंदर्यमलंकारः।"[2] वामन से भी पूर्व भामह ने भी काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता की चर्चा करते हुए कहा कि कविता का तो कहना ही क्या, वनिता का भी सहजसुंदर मुख अलंकारों के अभाव में शोभा नहीं देता — "न कांतमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।"[3] दंडी के मतानुसार अलंकार काव्य-सौंदर्य का मूल कारण हैं — "काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।"[4] जयदेव का कथन है कि जिस प्रकार ऊष्माहीन अग्नि की कल्पना संभव नहीं है उसी प्रकार अलंकारविहीन काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती है—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥[5]

---

१. द न्यू क्रिटिसिज्म, पृ० ५५
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १.१-२
३. काव्यालंकार, १.१३
४. काव्यादर्श, २.१
५. चंद्रालोक, १.८

आचार्य केशवदास का भी कहना है कि कविता चाहे सर्वगुणसंपन्न हो, किंतु जब तक उसमें अलंकार ग्रथित न हों तब तक वह सुशोभित नहीं होती—

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजहीं, कबिता बनिता मित्त ॥[1]

किंतु संस्कृत में ही आचार्यों का एक ऐसा भी वर्ग रहा है जिसने अलंकारों को आभूषणस्थानीय मानकर उन्हें रसादि का उपस्कारक माना है—यदि मम्मट की दृष्टि में वे 'हारादिवत्' हैं[2] तो विश्वनाथ उन्हें 'अंगदादिवत्' मानते हैं।[3]

अलंकारों की ही भाँति कविता में छंद की भी स्थिति विवादास्पद है। यह विवाद पूर्व और पश्चिम, सर्वत्र ही खड़ा हुआ है। पाश्चात्त्य जगत् में एक वर्ग ऐसा है जो कविता के लिए छंद को अनिवार्य नहीं मानता। इस वर्ग में अरस्तू सिडनी, कोलरिज, रस्किन, बेगहॉट प्रभृति विचारक आते हैं। दूसरे वर्ग के अनुसार कविता की सार्थकता छंद में ही निहित है। इस वर्ग में ड्राइडन, मैथ्यू आर्नल्ड, कार्लाइल, एडगर एलन पो, प्रो० कूरथॉप, वाट्स-डंटन, स्टुअर्ट मिल, हडसन आदि सम्मिलित हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में गद्य और पद्य, दोनों को ही काव्य की संज्ञा दी गयी, इसलिए वहाँ छंद-अछंद का विवाद ही उत्पन्न नहीं हुआ। हाँ, आधुनिक काल में आकर छंद के सामने अवश्य प्रश्नचिह्न लगा दिया गया है। किंतु तब भी कविता में लय की स्थिति सामान्यतः स्वीकार्य है।

सारांश यह कि अलंकार, छंद आदि असंदिग्ध रूप से कविता के सौंदर्य-विधायक हैं और रैंसम के इस मत के पीछे एक सुदीर्घ चिंतन-परंपरा है, किंतु इस विषय में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इस चेतावनी को ध्यान में रखना पड़ेगा कि "ये साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य को भुलाकर इन्हीं को साध्य मान लेने से कविता का रूप कभी-कभी इतना विकृत हो जाता है कि वह कविता ही नहीं रह जाती। पुरानी कविता में कहीं-कहीं इस बात के उदाहरण मिल जाते हैं।"[4] यहाँ शुक्ल जी का संकेत संभवतः केशव की कविता, विशेषतः उनकी 'रामचंद्रिका' की ओर है जो अलंकारों और छंदों की दृष्टि से भानुमती का पिटारा बनकर रह गयी है।

---

१. कविप्रिया, ५.१

२. काव्यप्रकाश, ८.६७

३. साहित्यदर्पण, १०.१

४. रस-मीमांसा, पृ० ४६

३. विशेष को शब्द-विधान किंवा कविता का सहज गुण मानने में रैंसम का विद्रोही स्वर ही परिलक्षित होता है। अरस्तू ने कविता को सामान्य (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति माना है[1] और उनका ही अनुसरण शिकागो समीक्षकों ने भी किया है। रैंसम ने कविता में वैशिष्ट्यों को महत्त्व देकर अरस्तू और, प्रकारांतर से, शिकागो समीक्षकों पर गहरी चोट की है। इसमें तो संदेह नहीं कि कवि विशिष्ट नाम-रूप-धारी व्यक्तियों और वस्तुओं को अपने काव्य का विषय बनाता है, किंतु इस वैशिष्ट्य के माध्यम से वह सार्वभौम और सार्वजनीन को ही अभिव्यक्ति देता है। शेक्सपियर के हैमलेट की प्रतिशोध-भावना उन सारे मानवों की प्रतिशोध-भावना की प्रतीक है जो अपने पिता के हत्यारे के प्रति उनमें जन्म लेती है; विशिष्टनामधारी मैकवेथ की महत्त्वाकांक्षा प्राणिमात्र की महत्त्वाकांक्षा है; दुर्दांत प्रकृति के द्वारा सताया गया कामायनी के 'चिंता' सर्ग का मनु उस सारी मानव-जाति का प्रतिनिधि है जो अपना सब-कुछ खोकर चिंतनशील हो उठती है, किंतु अनुकूल परिस्थितियों के आते ही जो मनु की ही भाँति पुनः विषयासक्त हो जाती है। कहने का आशय यह कि स्रष्टा कलाकार आरंभ तो विशेष से ही करता है, किंतु उसकी कृति का पर्यवसान सार्वभौम में जाकर होता है। अतः रैंसम की मान्यता में आंशिक, और वह भी सर्जना के आरंभिक चरण में ही, तथ्य की झाँकी दृष्टिगत होती है; उनकी इस मान्यता को उसके अविकल रूप में स्वीकारना कथमपि संभव नहीं है।

४. रैंसम की इस बात को मान लेने में संभवतः किसी को भी आपत्ति न होगी कि काव्य में प्रयुक्त शब्द एक-दूसरे से संबद्ध अनेक अर्थों के जनक होते हैं। ये शब्द प्रसंग, संदर्भ, बिंब, प्रतीक, अलंकार, छंद आदि के दबाव से ऐसे विभिन्न अर्थों को विकीर्ण करने लग जाते हैं जिनका कोशगत अर्थों से दूर का भी संबंध नहीं होता। भारतीय काव्यशास्त्र में व्यंजना नामक शब्द-व्यापार के अंतर्गत इन्हीं संपृक्तार्थों का विशद विवेचन किया गया है। एक उदाहरण के द्वारा प्रस्तुत मंतव्य का स्पष्टीकरण उपयुक्त होगा —

सखिहि सुसिख दई, प्रेम-मगन भई,
सुरति बिसरि गई आपनी ओही।
तुलसी रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी-सी काढ़ी,
कौन जानै, कहाँतें आई, कौनकी को ही ॥[2]

---

१. डॉ० नगेंद्र-द्वारा संपादित अरस्तू का काव्य-शास्त्र, अनुवाद-भाग, पृ० २६

२. गीतावली, २.१९

उक्त अंश तुलसीकृत 'गीतावली' के अयोध्याकांड से उद्धृत है। राम, सीता और लक्ष्मण वन के मार्ग में जा रहे हैं। मार्ग में पड़नेवाले ग्रामों के आबालवृद्ध, नर-नारी सभी उन तीनों की रूप-राशि का अवलोकन कर विमुग्ध हो रहे हैं। उपर्युक्त अंश उस पद का एक भाग है जिसमें एक ग्राम-बधूटी दूसरी ग्रामबधूटी को मूर्तित्रयी के परम सौंदर्य को जी भरकर देख लेने की सीख देती है, किंतु मज़ेदार बात तो यह है कि सीख देने वाली यह ग्राम-बधूटी स्वयं ही उस रूपमाधुरी का पान कर सुध-बुध खो बैठती है। इन पंक्तियों में तुलसी ने इसी विलुप्तचेतना युवती को उतारना चाहा है। पंक्तियों का वाच्यार्थ है—'सखी को सुशिक्षा देकर वह प्रेम में डूब गयी और उसे अपनी सुधि जाती रही। तुलसीदास कहते हैं, फिर तो वह पत्थर में गढ़कर काढ़ी हुई मूर्ति के समान ज्यों-की-त्यों खड़ी रह गयी। फिर यह कौन जाने कि वह कहाँ से आई थी और किसकी कौन लगती थी।' इस वाच्यार्थ के बाद व्यंजना अपना व्यापार प्रारंभ करती है। रेखांकित पंक्ति में कवि ने उस चेतनाशून्य युवती के लिए एक उपमान जुटाया है और वह है पाषाणनिर्मित प्रतिमा का। यहाँ प्रश्न है, क्या कवि पाषाण-प्रतिमा के द्वारा युवती की केवल चेतनाशून्यता का ही आभास देना चाहता है? उत्तर है नहीं, कथमपि नहीं। कवि इसके आगे और भी कुछ कहना चाहता है जहाँ कोशगत अर्थ की पहुँच नहीं है। हम सभी जानते हैं कि मूर्तिकार मूर्ति-निर्माण में अपने सारे सौंदर्य-बोध को उँडेल देता है और इसीलिए अनुकृति प्रकृति से कहीं अधिक बढ़ जाती है—उसका सानुपातिक सौंदर्य देखते ही बनता है। मूर्तिकार की कल्पना मूर्ति के विभिन्न अवयवों में साकार हो उठती है—उसके द्वारा गढ़ा हुआ सौंदर्य एकदम पूर्ण होता है, ऐसा पूर्ण जो यथार्थ जगत् में दिखायी ही नहीं पड़ता। कवि जब इस आपाततः रमणीय पाषाण-प्रतिमा को युवती के उपमान-रूप में प्रस्तुत कर रहा है तब वह निश्चय ही उस रमणी की सर्वांगरमणीयता को भी व्यंजित करना चाह रहा है। इस प्रकार कवि प्रस्तुत उपमान के माध्यम से उस युवती की संज्ञाविहीनता को ही नहीं, उसके रूप-लावण्य की झाँकी को भी उपस्थित करना चाहता है। यह व्यंजना यहीं पर आकर विरत हो जाती हो, ऐसा नहीं है। वह और आगे बढ़ती है। मनोविज्ञान का यह सामान्य नियम है कि एक सुंदर व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के सौंदर्य पर सहज ही मुग्ध नहीं होता। स्त्रियाँ तो इस विषय में और भी अनुदार होती हैं—एक सुंदर नारी और वह भी दूसरी नारी के सौंदर्य पर रीझे, यह कभी हो नहीं सकता। तुलसी की भी तत्त्वावगाहिनी दृष्टि से यह तथ्य ओझल नहीं हुआ है। तभी तो उन्होंने

लिखा है — मोह न नारि नारि कें रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा।[1] इतने पर भी अद्भुत सौंदर्य से मंडित वह नारी राम, सीता और लक्ष्मण के रूप को देखकर बेसुध हो गयी है — राम और लक्ष्मण के सौंदर्य को देखकर वह अपने शरीर की सुधि भुला दे, यहाँ तक तो समझ में आ सकता है और मनोविज्ञान भी इसका साक्षी है, किंतु वह तो सीता के भी सौंदर्य पर उसी प्रकार मोहित है। यहीं पर आकर हमें कुछ रुककर सोचना पड़ जाता है। अंततः वह बात क्या है जिसे कवि मनोविज्ञान के सामान्य नियम का अतिक्रमण करके भी प्रस्तुत करना चाहता है। युवती निर्निमेष भाव से तीनों बटोहियों की रूप-संपदा का अवलोकन करती हुई अपनी संज्ञा खो बैठती है। इससे व्यंजित होता है कि उन तीनों का रूप-वैभव निःसंदेह लोकातिक्रांतगोचर होना चाहिए। यदि युवती के सौंदर्य और उनके सौंदर्य में अंतर उन्नीस-बीस का ही होता तो वह युवती अधिक से अधिक उसका बखान कर सकती थी। किंतु ऐसा नहीं है, युवती का सौंदर्य उस त्रिमूर्ति के सौंदर्य के समक्ष नगण्य है तभी तो उससे अभिभूत होकर हतसंज्ञ हो जाती है। इस प्रकार कवि प्रकारांतर से राम, सीता और लक्ष्मण के सौंदर्यातिशय्य की व्यंजना कर रहा है। एक सामान्य-से उपमान 'पाषाण-प्रतिमा' द्वारा ग्राम-युवती के अनिंद्य सौंदर्य की व्यंजना और इस व्यंग्यार्थ से राम, सीता तथा लक्ष्मण के सौंदर्यातिशय्य की व्यंजना तुलसी-जैसे सिद्ध कवियों का ही कार्य है। काव्यशास्त्र की शब्दावली में इसे व्यंग्यसंभवा व्यंजना कहा जाता है। जब रैंसम शब्द-विधान-द्वारा अर्थ-साहचर्य की बात करते हैं तब वे कुछ इसी प्रकार के संबद्धार्थों की ओर संकेत करना चाहते हैं।

शब्दों का कुशल प्रयोग इन अर्थों को और अधिक चारुता प्रदान करता है। रेखांकित पंक्ति में न ही कोई संयुक्ताक्षर है और न ही परुष वर्णों का प्रयोग किया गया है; क्योंकि ऐसा करने से मूर्ति की सुडौलता दरक सकती थी। उदाहरण के लिए कवि 'पाहन' के स्थान पर 'पत्थर' (या इस-जैसे किसी अन्य) शब्द का प्रयोग कर सकता था, इससे न तो वाच्यार्थ में कोई परिवर्तन आता था और न ही छंद-भंग की संभावना थी, किंतु उसने ऐसा नहीं किया और शायद जान-बूझकर। कारण यह कि 'पत्थर' शब्द आते ही ऐसा लगता जैसे मूर्ति में चटख कर एक दरार पड़ गयी हो और इस प्रकार यह शब्द मूर्ति की सुडौलता और मसृणता को एक साथ ही समाप्त कर देता। वर्ण-प्रयोग के विषय में भी कवि इतना जागरूक है कि उसने परुष वर्ण 'ढ' को भी 'ढ़'

१. रामचरितमानस, ७.११६

में परिवर्तित कर उसके पारुष्य को समाप्त कर दिया है; क्योंकि 'ढ' के प्रयोग से मूर्ति का स्पर्श चिकना न दिखकर खुरदरा जान पड़ सकता था और इस प्रकार वह युवती के शरीर की उस चिक्कणता को अंकित न कर पाता जो मौजूदा हालत में प्रेक्षक की दृष्टि की बिछलन का कारण बन रही है। पंक्ति की शब्दावली पर छोड़ा ध्यान देते ही यह एकदम साफ हो जाता है कि कवि ने अधिकांशतः दीर्घमात्रायुक्त पदों का प्रयोग किया है जो युवती के प्रलंब कलेवर का आभास देते हैं। 'ठाढ़ी' पद सोने में सुहागे का काम करता जान पड़ रहा है — दो दीर्घ मात्राओं वाला यह पद उसकी उत्तिष्ठमान शरीरच्छवि को पाठक की आँखों के समक्ष उभार कर रख रहा है और उसे यहाँ भी कामायनी की 'एक लंबी उन्मुक्त काया' दिखायी पड़ रही है।

उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय यह है कि रैंसम-द्वारा समर्थित शब्द-विधानाश्रित अर्थ-साहचर्य की धारणा सर्वथा समीचीन है। कुशल कवि की लेखनी से निःसृत शब्द विभिन्न संबद्ध अर्थच्छायाओं के द्वारा सहृदय को आह्लादित करते हैं।

## केनेथ बर्क का 'प्रतीकात्मक व्यापार'[१]

यद्यपि बर्क ने आलोचना के क्षेत्र में किसी नूतन सिद्धांत की उद्भावना नहीं की है तथापि कविता में प्रतीक-व्यापार के प्रति उनका इतना प्रबल आग्रह है कि समीक्षक के रूप में उनकी चर्चा करते समय उनके द्वारा निरूपित प्रतीक-व्यापार का विवेचन अपरिहार्य हो उठता है। काव्य में प्रतीक के प्रति उनकी ठीक वैसी ही आसक्ति है जैसी किसी समालोचक की अपने द्वारा उद्भावित सिद्धांत के प्रति होती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए चार्ल्स आई० ग्लिक्सबर्ग ने लिखा है — "बर्क की रुचि मुख्यतः इस संधान में है कि साहित्य में प्रतीक-व्यापार अपना कार्य किस प्रकार करता है।"[२] बर्क के द्वारा भाषा को प्रतीक-रूप माने जाने और इसी युक्ति के आधार पर उनके द्वारा काव्यालोचन को आर० पी० ब्लैकमर ने भी लक्षित किया है।[3]

बर्क के विचार से कविता अथवा कोई भी शाब्दिक क्रिया प्रतीकात्मक व्यापार-रूप है।[४] प्रतीक की इसी व्यापकता के विषय में उनके शब्द हैं — "मैं ज्यों-ज्यों कविता की संरचना, और कविता की संरचना से बाहर मानव-संबंधों

१. सिम्बॉलिक ऐक्शन
२. अमेरिकन लिटरेरी क्रिटिसिज्म (१९००-१९५०), पृ० ३०७
३. द लॉयन एंड द हॉनीकॉम्ब, पृ० १९४
४. द फिलॉसफी ऑफ़ लिटरेरी फ़ॉर्म, पृ० ८

के ढाँचे का विश्लेषण करता हूँ, त्यों-त्यों मेरा यह विश्वास दृढ़तर होता चला जाता है कि प्रतीक "मूल" अलंकार है और यह अपने लक्षणबद्ध रूप से भिन्न अन्य रूपों में भी दिखायी पड़ता है।"[1]

शब्द की प्रतीकात्मकता के विषय में उनका कहना है कि किसी शब्द की प्रतीकात्मकता इस तथ्य में निहित है कि कोई भी व्यक्ति उस शब्द का प्रयोग मात्र उसके कोशगत अर्थ में नहीं करता। प्रतीकात्मक शब्द की व्यंजनाएँ उस संदर्भ के द्वारा उद्‌घाटित होती हैं जिस संदर्भ में वक्ता अथवा लेखक के कथन में उसका प्रयोग होता है। यदि कोई व्यक्ति उस शब्द-समूह के द्वारा उद्‌घाटित सारे अंतस्संबंधों की खोज करता है जिस शब्द-समूह का, प्रतीकात्मक शब्द एक सक्रिय सदस्य है तो वह उस शब्द की प्रतीकात्मकता को वैशिष्ट्यों की अनंतता में खो बैठेगा। प्रतीकात्मकता किसी अध्याय के शीर्षक की भाँति है, जबकि वैशिष्ट्यों की स्थिति उन विवरणों की भाँति है जो अध्याय को भरते हैं। शीर्षक अध्याय की "प्रथम जानकारी" है, जबकि विवरणमयी संपूर्ति उसकी "निकटतर जानकारी।"[2]

अन्यत्र प्रतीक को परिभाषित करते हुए बर्क ने लिखा है कि प्रतीक अनुभूत्याकृति (पैटर्न ऑफ़ एक्सपीरिएंस) का शाब्दिक समानान्तर है। उदाहरणार्थ, कवि अपने प्रति अनुपयुक्त उपेक्षा के लिए अपने ऊपर दया दिखा सकता है, और यह आत्म-दया उसके जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान बना सकती है। बहुत अधिक वेगवती और बार-बार प्रयुक्त होने से यह इतनी चुनिंदा हो सकती है कि कवि को अपनी उपेक्षित योग्यता के इसमें सदैव नये-नये उदाहरण मिलते जायँ। इस प्रकार आत्म-दया उस कवि के जीवन में इतनी प्रमुखता धारण कर लेती है कि वह अनुभूत्याकृति का रूप ग्रहण कर उठती है।[3]

प्रस्तुत प्रसंग में ही प्रतीक को फ़ॉर्मूला मानते हुए[4] बर्क ने कहा है— "प्रतीक अपने प्रभाव में तब संभवतः सर्वातिशायी हो उठता है जब कलाकार और पाठक, दोनों की ही अनुभूत्याकृतियों में तादात्म्य हो जाता है।"[5]

बर्क के मतानुसार प्रतीक निम्न रूपों में कार्य करता है:

**१. परिस्थिति की व्याख्या के रूप में**—नाम और परिभाषा के अनुरूप

---

१. द फिलॉसफी ऑफ़ लिटरेरी फ़ॉर्म, पृ० २६

२. वही, पृ० ३५

३. कॉउंटर-स्टेटमेंट, पृ० १५२-५३

४. वही, पृ० १५३

५. वही, पृ० १५३

अपने कार्य के द्वारा प्रतीक उस जटिलता को सरलता और व्यवस्था प्रदान करता है जो अन्यथा अस्पष्ट है।

**२. परिस्थिति को स्वीकृति दिलाने के रूप में**—कभी-कभी यह भी हो सकता है कि प्रतीक के द्वारा उद्घाटित परिस्थिति जटिल न भी हो, किंतु व्यावहारिक जीवन के झंझटों के कारण उस परिस्थिति की ओर हमारा ध्यान ही न गया हो। ऐसी स्थिति में प्रतीक हमें उस खतरे के अस्तित्व को मनवाने में सहायक हो सकता है जिसे हमने भावनात्मक स्तर पर नकार दिया हो। उदाहरणार्थ, उपहासास्पद प्रतीक परिस्थिति को कम करके हमें उस परिस्थिति को स्वीकार कराता है; व्यंग्यात्मक प्रतीक हमें परिस्थिति से असंपृक्त अनुभव कराते हुए उस परिस्थिति को स्वीकार कराता है; त्रासद प्रतीक हमें उस प्रकार की परिस्थिति में होने के गौरव का एहसास कराते हुए परिस्थिति को मनवाता है; कामद प्रतीक हमें परिस्थिति पर विजय प्राप्त करने का एहसास कराते हुए उस परिस्थिति को मनवाता है।

**३. परिस्थिति के संशोधनकर्त्ता के रूप में**—मानव नगर के जीवन में जिस त्रुटि का अनुभव करता है उसकी पूर्ति के निमित्त उसकी रुचि खेती-बाड़ी के जीवन में जगती है; परिणामतः खेती-बाड़ी के जीवन से संबद्ध प्रतीक उसे आकर्षक लगने लगते हैं। अथवा, मानव नगर के नीरस जीवन में जिस त्रुटि का अनुभव करता है उसकी पूर्ति के निमित्त उसकी रुचि नगर के वैभव-शाली जीवन में जागृत होती है; इत्यादि। ऐसी स्थितियों में उस वास्तविक परिस्थिति का प्रतिपादन नहीं हो पाता जिसके लिए प्रतीक को ग्रहण किया जाता है। रोमानी प्रणय की अधिकांश कथाएँ कदाचित् इसी वर्ग में आती हैं।

**४. सुप्त अनुभूति के प्रेरक-रूप में**—यद्यपि कलाकार की अनुभूत्याकृति पाठक की अनुभूत्याकृति से भिन्न हो सकती है तथापि कलाकार के द्वारा ऐसे प्रतीक का प्रयोग किया जा सकता है जो पाठक की सुप्त अनुभूत्याकृतियों को बहुत गहराई तक हिंदोलित कर दे। निर्ममता, संत्रास और व्यभिचार के प्रतीकों का आकर्षण प्रायः इसी प्रकार का होता है।

**५. "मुक्तिदाता" के रूप में**—मुक्तिदाता के रूप में प्रतीक का आकर्षण मूलतः शब्दों के स्थानांतरण में निहित है। उदाहरणार्थ, निष्क्रियता के लिए अवकाश का प्रयोग, वीरता के लिए दुःसाहस का प्रयोग, कृपणता के लिए मितव्ययता का प्रयोग, उदारता के लिए अपव्ययता का प्रयोग, आदि; अथवा इसके ठीक विपरीत शब्दावली का प्रयोग।

**६. कलात्मक प्रभावों के साधक रूप में**—इस रूप में प्रतीक अलंकरण

या प्रदर्शन के साधक होते हैं।[1]

प्रतीक के द्वारा निष्पन्न किये जानेवाले इन कार्य-रूपों को बर्क ने इयत्ता का नहीं, ईदृक्ता का सूचक बताया है। साथ ही एक रूप दूसरे में कुछ इस प्रकार घुल-मिल गया है कि इनके बीच में निश्चित व्यावर्तक रेखाओं का खींचा जाना भी संभव नहीं है।

प्रस्तुत विवेचन को सार-रूप में प्रस्तुत करते हुए बर्क ने कहा है कि प्रतीक या तो परिस्थिति के पुनर्नवीकरण के रूप में कार्य करता है या परिस्थिति के साथ समझौते के रूप में, अथवा फिर दोनों ही रूपों में।[2]

'हिन्दी साहित्य कोश' में प्रतीक के जिन कार्यों का उल्लेख किया गया है वे निश्चय ही बर्क-द्वारा निरूपित इसी प्रतीक-व्यापार के सारांशमात्र हैं।[3]

**निष्कर्ष :**

केनेथ बर्क के प्रतीक-विवेचन के परिणामस्वरूप जो तथ्य उभरते हैं उन्हें निष्कर्ष-रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. प्रतीकात्मकता भाषा का सहज गुण है।

२. प्रतीकात्मक शब्द के अर्थ का निर्धारण कोश द्वारा नहीं, संदर्भ-द्वारा होता है।

३. प्रतीक अनेक रूपों में अपना कार्य करता है।

**विवेचन :**

१. जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है, प्रतीक की कल्पना, बर्क की निजी नहीं है, उनसे पर्याप्त समय पूर्व कला-जगत् में प्रतीक की स्थापना हो चुकी थी। डॉ० ए० जी० जॉर्ज ने प्रतीक की पुरातनता का उल्लेख करते हुए लिखा है — "प्रतीकात्मक रूप में कला की अवधारणा कम-से-कम उतनी पुरानी है जितना प्लोटाइनस। श्लेगल ने घोषणा की थी कि समस्त कला का सार प्रतीकात्मक है। इंग्लैंड में कार्लाइल ने और जर्मनी में गेटे ने कला की प्रतीकात्मक अवधारणा का प्रचार किया।"[4] आगे चलकर प्रतीकवाद के प्रबल

---

१ कॉउटर-स्टेटमेंट, पृ० १५४-५६

२. वही, पृ० १५६

३. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० ४७३

४. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र : सिद्धांत और वाद, प्रधान संपादक—डॉ० नगेंद्र, पृ० २२७

व्याख्याता कैस्सिरर ने इन्हीं प्रतिक्रियाओं को सुसंबद्धता प्रदान कर उसे दर्शन के धरातल पर प्रतिष्ठित किया है।

भाषा को प्रतीकात्मक भी अकेले केनेथ बर्क ने ही नहीं, वरन् उन सभी ने स्वीकार किया है जो या तो इस आंदोलन के अनुयायी हैं, या फिर इसकी व्याख्या करने वाले हैं — कैस्सिरर, सूसन के० लैंगर, जोसेफ़ टी० शिपले, सी० एम० बावरा आदि सभी एक स्वर से भाषा की प्रतीकात्मकता की घोषणा करते हैं। 'इंसाइक्लोपीडिआ ऑफ़ रिलीजन एंड एथिक्स' में सभी प्रकार की भाषा को प्रतीकात्मक बताया गया है।[1]

२. प्रतीकार्थ का नियामक, निश्चय ही, कोश नहीं, वरन् संदर्भ हुआ करता है। कारण यह है कि मानव किसी प्रतीक का प्रयोग करता ही तब है जब वह सीधी-सरल भाषा को अपनी अनुभूति के सशक्त संप्रेषण में अशक्त पाता है और ऐसी स्थिति में सीधी-सरल भाषा के शब्दों के अर्थों का विधायक कोश स्वभावतः उस अनुभूति के प्रकाशन में असमर्थ हो उठता है जो अनुभूति प्रतीक-द्वारा व्यक्त की जा रही है। ऐसे अवसर पर संदर्भ या प्रकरण ही उस प्रतीक का उद्घाटक हुआ करता है। क्लिअंथ ब्रुक्स ने भी रोमानी कविता को प्रतीक-निर्भर बतलाते हुए प्रतीक के विषय में लिखा है कि प्रतीक ऐसा बिंब है जो उस संदर्भ के साथ अपने विशिष्ट संबंध के कारण अपने से परे व्यापकतर अर्थों का संकेत करता है जिस संदर्भ से वह संपृक्त है।[2]

३. प्रतीक का कार्य मात्र सर्जक कलाकार की अनुभूति को वहन करना ही नहीं है, वरन् प्रमाता में भी उसी प्रकार की अनुभूति को जागृत करना है। अपने इस कार्य को प्रतीक अनेक रूपों में निष्पन्न किया करता है। केनेथ बर्क ने इन रूपों में से कतिपय की ओर ही संकेत किया है। वस्तुतः मानव-जीवन के क्षेत्रों की कोई इयत्ता नहीं है और प्रतीक मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से संबद्ध होने के कारण अनंत हैं। इसीलिए उनके द्वारा किए जानेवाले कार्य-रूपों की सीमा का निर्धारण संभव नहीं है।

**प्रतीक और भारतीय काव्यशास्त्र :** भारतीय साहित्य में प्रतीकों की एक अनवच्छिन्न परंपरा देखने को मिलती है — वैदिक साहित्य से लेकर अधुनातन साहित्य में प्रतीकों की भरमार रही है। यहाँ पर एक-दो उदाहरणों पर दृष्टिपात कर लेना अप्रासंगिक न होगा। वैदिक ऋषि ने ब्रह्म और जीव की कल्पना दो पक्षियों के रूप में की है—

---

१. इंसाइक्लोपीडिआ ऑफ़ रिलीजन एंड एथिक्स, खंड १२, पृ० १३६

२. मॉडर्न पोएट्री एंड द ट्रेडिशन, भूमिका-भाग, पृ० १३

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥[1]

श्रीमद्भागवतपुराण तथा वायुपुराण में यह मंत्र कुछ संशोधित रूप में मिलता है ।[2] आधुनिक कवि सुमित्रानंदन पंत ने इसी मंत्र का अनुवाद इस प्रकार किया है—

दो पक्षी हैं सहज सखा, संयुक्त निरंतर,
दोनों ही बैठे अनादि से उसी वृक्ष पर ।
एक ले रहा पिप्पल फल का स्वाद प्रतिक्षण,
बिना अशन, दूसरा देखता अंतर्लोचन ।[3]

प्रतीकों की यह धारा लौकिक संस्कृत साहित्य में भी वही है । इसके बाद नाथों, सिद्धों और संतों के काव्य को तो इस धारा ने आप्लावित ही कर दिया है । रीतिकाल और यहाँ तक कि आधुनिक काल के कवि भी प्रतीकों का व्यापक प्रयोग करने में हिचकिचाये नहीं हैं । छायावादी कवि ने तो अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्राय: प्रतीक का ही अवलंब लिया है । प्रसाद की निम्नांकित पंक्तियों में 'झंझा', 'बिजली' और 'नीरद माला' बड़े ही सशक्त प्रतीक हैं —

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी, नीरद माला ।
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला ।[4]

यहाँ पर मुख्यत: विचारणीय विषय तो यह है कि भारत के जिन समीक्षा-शास्त्रियों ने साहित्य के विविध तत्त्वों के सूक्ष्म विश्लेषण और सिद्धांत-निर्धारण में कोई कोर-कसर न छोड़ रखी हो उन्होंने अपने ही साहित्य में प्रतीकों की इतनी अधिक समृद्ध परम्परा के रहते हुए भी प्रतीक-जैसे महत्त्वपूर्ण साहित्यिक

---

१. (अ) ऋग्वेद, १.१६४.२०
(आ) अथर्ववेद, ६.६.२०
(इ) मुंडकोपनिषत्, ३.१.१
(ई) श्वेताश्वतरोपनिषत्, ४.६
२. (अ) श्रीमद्भागवतपुराण, ११.११.६
(आ) वायुराण, ६.११०
३. स्वर्णकिरण, पृ० ६४
४. आँसू, पृ० १५

तत्त्व को अपने चिंतन का विषय क्यों नहीं बनाया। थोड़ा-सा विचार करने पर कारण स्पष्ट होते देर नहीं लगती है। विभिन्न सिद्धांतों की स्थापना में भारतीय आचार्यों का दृष्टिकोण पर्याप्त व्यापक रहा है। पाश्चात्त्य समीक्षा में सुविचारित ऐसे अनेक काव्य-तत्त्व हैं जिनका यथावत् उल्लेख भारतीय काव्यशास्त्र में भले ही न हो, किंतु उनका समाहार किसी-न-किसी रूप में उसमें हो अवश्य जाता है। प्रतीक, बिंब आदि कुछ ऐसे ही तत्त्व हैं जिनका नाम भारतीय आचार्यों ने नहीं लिया है, किंतु वे उनकी दृष्टि से बचे नहीं हैं। प्रतीक निःसंदेह व्यंजना-व्यापार और उसके भी एक भेद शाब्दी की ही सीमा में आ जाता है। कारण यह कि प्रतीक अनिवार्यतः व्यंजक है और जो व्यंजक है वह व्यंजनाश्रित है। डॉ० ए० जी० जार्ज ने प्रतीकवादी दार्शनिक और कवि के मिलन-बिंदु के विषय में जो कुछ कहा है उससे प्रतीक का व्यंजकत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है—"प्रतीक की यह अवधारणा कि उसमें असीम व्यंजनात्मकता निहित रहती है और वैसे ही असीम व्यंजना जगाने की शक्ति होती है, ऐसा बिंदु है जहाँ प्रतीकवादी एवं कवि एक-दूसरे से मिल जाते हैं।"[1] इधर हिंदी-समीक्षकों में डॉ० कृष्णकुमार शर्मा ने भी प्रतीक के व्यंजकत्व पर विचार करते हुए लिखा है—"प्रतीक काव्य का ऐसा उपादान है जो कवि के अभिप्रेत अर्थ की व्यंजना करता है, प्रतीक स्वयं व्यंजक है।"[2]

प्रतीक का यह प्रतिबंध भी व्यंजना का ही प्रतिबंध है कि उसके अर्थ का नियामक कोश नहीं, संदर्भ होता है। मम्मट ने अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का लक्षण देते हुए बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जब संयोग आदि के द्वारा शब्द का वाच्यार्थ नियंत्रित (निर्धारित) हो जाता है तब व्यंजना ऐसे अर्थ का द्योतन कर दिया करती है जिसे कभी वाच्यार्थ नहीं कहा जा सकता है—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियंत्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरंजनम्॥[3]

प्रस्तुत कारिका में मम्मट ने जिस 'संयोगादि' के द्वारा शब्द के वाच्यार्थ के नियंत्रित होने की बात कही है उसे उन्होंने भर्तृहरि से ग्रहण किया है। भर्तृहरि ने अनेकार्थी शब्दों को एक अर्थ में नियंत्रित करने के चौदह कारण

१. पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धांत और वाद, प्रधान संपादक—डॉ० नगेंद्र, पृ० २२८
२ ध्वनिसिद्धांत का काव्याशास्त्रीय, सौंदर्यशास्त्रीय और समाजमनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० २६२
३. काव्यप्रकाश, २.१९

बतलाये हैं जिनमें प्रकरण एक है जो संदर्भ का ही पर्याय है। ये चौदह कारण हैं — संयोग विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्यसन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर —

> संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
> अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥
> सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
> शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥[1]

यहाँ पर 'आदयः' पद इस बात की सूचना दे रहा है कि भर्तृहरि ने जो चौदह कारण गिनाये हैं वे उनकी ही दृष्टि में पर्याप्त नहीं हैं; शब्दार्थ-नियंत्रण के इनसे अधिक भी कारण हो सकते हैं।

निष्कर्ष यह कि भारतीय मनीषा ने प्रतीक नामधेय-जैसे किसी काव्य-तत्त्व पर भले ही विचार न किया हो, किंतु काव्य के विभिन्न उपकरणों के स्वरूप-निर्धारण के समय यह तत्त्व उसकी दृष्टि से ओझल नहीं हुआ है, अपितु व्यंजना-व्यापार की अनंतता के ही किसी कोने में वह दुबककर बैठ गया है।

प्रतीक-कविता का मूल्यांकन : प्रतीक सचमुच कविता का सौंदर्यविधायक तत्त्व है, किंतु इसके लिए अनिवार्य प्रतिबंध यह है कि वह अनुभूतिप्रेरित हो। यदि प्रतीक अनुभूति के उद्दाम वेग से उच्छलित होकर आता है तो वह प्रमाता की भी भावोर्मियों को जगाने का कारण बनता है। किंतु प्रतीक यह सब कुछ कर सकने में समर्थ तभी हो सकेगा जब वह समष्टिगत हो। दूसरे शब्दों में, प्रतीक में साधारणीकरण की क्षमता होनी चाहिए। ऐसे प्रतीक ही अभिव्यक्ति को प्रांजलता प्रदान करते हैं। जो प्रतीक सर्जक कलाकार के किसी निभृत कोने से निकलकर आते हैं वे अभिव्यक्ति को जटिल बना देते हैं। पाठक नितांत वैयक्तिक प्रतीकों के कारण दुर्बोध कविता का भार अपने सिर पर लेना नहीं चाहता, और तब ऐसी कविता काल के गर्त में विलीन हो जाती है। प्रतीकवादी आंदोलन की निःशेषता का मूल कारण इन्हीं व्यक्तिगत प्रतीकों से धूमिल बनी अभिव्यक्ति ही रही है।

## एलेन टेट का 'तनाव'[2]

अपने प्रसिद्ध निबंध 'टेंशन इन पोइट्री' में तनाव को काव्य का निकष घोषित करते हुए टेट ने लिखा है — "अनेक कविताओं में जिन्हें हम

---

१. काव्यप्रकाश में द्वितीय उल्लास की उन्नीसवीं कारिका के स्पष्टीकरण में उद्धृत।

२ टेंशन

सामान्यत: सत्काव्य समझते हैं, और उनके अतिरिक्त कुछ ऐसी कविताओं में भी जिनकी हम उपेक्षा करते हैं, कुछ ऐसे सामान्य तत्त्व पाये जाते हैं जो हमें कविता को बारीकी से समझने के लिए उस अकेले गुण के नाम-संधान के लिए प्रेरित करते हैं जिसे मैं तनाव कहूँगा।"[1] टेट के कथन का आशय यह कि 'तनाव' एकमात्र ऐसा गुण है जिसके आधार पर कविता-नामधेय साहित्यविधा को बड़ी गहराई के साथ समझा जा सकता है।

किंतु अगले ही क्षण टेट को शायद अपनी ग़लती का एहसास हुआ और उन्हें लगा कि मात्र तनाव को काव्य की कसौटी नहीं माना जा सकता और तब उन्होंने लिखा — "इस निबंध ('टेंशन इन पोइट्री') के अंत में मैं "तनाव" के उदाहरण प्रस्तुत करूँगा, किंतु मैं यह नहीं कहूँगा कि वे उदाहरण मात्र तनाव के ही हैं, अथवा फिर अन्य गुणों की उपेक्षा कर दी जानी चाहिए।"[2] स्पष्ट है कि टेट के मस्तिष्क में तनाव के साथ ही कविता के कुछ अन्य प्रति-मान भी हैं और प्रस्तुत कथन से उनकी उदार दृष्टि का पता चलता है, किंतु तब भी उनके विचार से तनाव कविता के सौंदर्य का बहुत दूर तक मापक तत्त्व है।

टेट के तनाव-सिद्धांत को समझने के लिए हमें सर्वप्रथम उनके द्वारा दिये गये सत्काव्य के लक्षण को समझना होगा। इस विषय में उनका कथन है — "अच्छी कविता उन सारे अर्थों की एक अन्विति है जो अपने प्रकर्ष को प्राप्त अंतस्तनाव और बहिस्तनाव से प्राप्त होते हैं।"[3] यहाँ पर ये दो शब्द बड़े मार्के के हैं। इन शब्दों को, जैसा कि टेट ने स्वयं कहा है, तर्कशास्त्र से ग्रहण किया गया है, और इन्हीं के उपसर्गों को हटाकर उन्हें 'तनाव' शब्द की प्राप्ति हुई है। इस 'तनाव' का प्रयोग उन्होंने एक सामान्य रूपक के रूप में नहीं, प्रत्युत एक विशिष्ट रूपक के रूप में किया है।[4]

टेट-द्वारा प्रयुक्त इस तनाव को समझने से पूर्व बहिस्तनाव तथा अंतस्तनाव को समझना अनिवार्य हो जाता है। बहिस्तनाव कविता की वह युक्ति-युक्त गति है जो उसके एक बिंदु से दूसरे बिंदु तक और इसी प्रकार अंत तक देखने को मिलती है; अंतस्तनाव से तात्पर्य कवि के भावावेग और उसके आलंकारिक विकास से है। यदि बड़े ही साफ़ शब्दों में कहा जाय तो बहि-

---

१. द मैन ऑफ़ लेटर्स इन द मॉडर्न वर्ल्ड, पृ० ६४
२. वही, पृ० ६४
३. वही, पृ० ७०
४. वही, पृ० ७१

स्तनाव कविता का वाच्यार्थ है जब कि अंतस्तनाव उसका लक्ष्यार्थ। नये समीक्षक की शब्दावली में बहिस्तनाव कविता का विचार, और अंतस्तनाव उसका बिंब है। रैंसम के यहाँ ये ही क्रमशः अर्थ-विधान और शब्द-विधान हैं। टेट के अनुसार 'तनाव' इन्हीं बहिस्तनाव और अंतस्तनाव का सम्यक् संघटित रूप है, और कविता का अर्थ इसी तनाव में निहित है।[1] दूसरे शब्दों में, कविता का मापक तनाव बहिस्तनाव तथा अंतस्तनाव के सामंजस्य किंवा संतुलन का ही अपर अभिधान है।

अपनी इसी तनावविषयक अवधारणा के स्पष्टीकरण में पहले तो टेट ने उन्नीसवीं शताब्दी के कवि जेम्स टॉम्सन की 'द वाइन' कविता को उद्धृत करते हुए उसमें अंतस्तनाव का सद्भाव और बहिस्तनाव का अभाव बताया है, और तदुपरांत इसके ठीक विपरीत सत्रहवीं शताब्दी के कवि काउले की कविता 'हिम टु लाइट' को उद्धृत करके उसमें बहिस्तनाव का सद्भाव और अंतस्तनाव का अभाव निरूपित किया है। तनाव का गुण इनमें से एक भी कविता में नहीं है; क्योंकि किसी में भी बहिस्तनाव और अंतस्तनाव का सामंजस्य पूर्ण नहीं हुआ है। या यों भी कह सकते हैं कि इन कविताओं में प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों में वह स्पर्धा-भाव देखने को नहीं मिलता है जो एक अच्छी कविता के लिए अपेक्षित है। तनाव के चरम निदर्शन के रूप में टेट ने सत्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि डन की कविता 'वैलेडिक्शन : फ़ॉर्बिडिंग मोर्निंग' का चार पंक्तियों वाला निम्नांकित बंद प्रस्तुत किया है :

अतः हमारी दो आत्माएँ, जो एक हैं,
　　चुनाचि मैं चला जाऊँगा, तब भी न सहें
अलगाव, अपितु फैलती जाएँ,
　　स्वर्ण-तुल्य जो पिटकर (पाता है) वायु के पतलेपन को।[2]

इस बंद पर टेट की टिप्पणी द्रष्टव्य है : "यहाँ पर डन बीस पंक्तियों में विकसित की गयी बिंब-योजना को एक अस्पष्ट साध्य के रूप में लाकर रख देते हैं : दो प्रेमियों की आत्माओं की एकता एक देशकालातीत स्थिति है और

---

१. द मैन ऑफ़ लेटर्स इन द मॉडर्न वर्ल्ड पृ० ७१

२. आउर टू सोल्स देयरफ़ोर व्हिच आर वन
　　दो आइ मस्ट गो, एंड्योर नॉट यट
ए ब्रीच, बट ऐन एक्सपेंशन,
　　लाइक गोल्ड टू एअरी थिननेस बीट।
—'द मैन ऑफ़ लेटर्स इन द मॉडर्न वर्ल्ड' के पृ० ७२ पर उद्धृत

इसीलिए अविभाज्य है। मेरा विश्वास है, जॉन क्रो रैंसम इसी को (प्रस्तुत) अवतरण का तर्क कहेंगे; यही इस अवतरण के विस्तारपरक अर्थ का सार है। अब इसमें रोचक बात है, ससीम बिंब में एकीकृत, असीम आत्मा को रूपायित करने का तार्किक विरोध : संघातवर्ध्य स्वर्ण एक ऐसा फलक है जिसकी सतह को अनंतता की दिशा में गणितीय पद्धति से सदैव आधा बढ़ाया जा सकता है; आत्माएँ यही अनंतता हैं। विस्तार की दृष्टि से स्वर्ण का ससीम बिंब उस आंतरिक अर्थ (अनंतता) का बड़े ही तर्कपूर्ण ढंग से खंडन करता है जिसका यह संप्रेषण कर रहा है, किंतु यह उस अर्थ को अवैध नहीं बनाता। हम देख चुके हैं कि काउले ने हमें संकेतित शिशुवस्त्र की उपेक्षा के लिए बाध्य किया जिससे कि हम उस नीलपुष्प को गंभीरता से लें जो उसे लपेटे हुए जान पड़ता है। किंतु डन की (कविता) 'वेलेडिक्शन : फ़ॉरबिडिंग मोर्निंग' में स्वर्ण का स्पष्ट वाच्यार्थ तनाव के द्वारा अवतरण के समग्र अर्थ को समेटे हुए है।' यदि हम स्वर्ण को अस्वीकार करते हैं तो अर्थ को भी अस्वीकार करते हैं, क्योंकि अर्थ पूर्णतः स्वर्ण-बिंब में समाहित है। यहाँ पर अंतस्तनाव और बहिस्तनाव एक हो गये हैं और वे एक-दूसरे को समृद्ध करते हैं।"[1]

टेट के इस तनाव-सिद्धांत को तुलसी की अधोलिखित पंक्ति द्वारा बखूबी स्पष्ट किया जा सकता है—

स्वामि-दसा लखि लखन सखा कपि, पिघले हैं आँच माठ मानों घिय के।[2]

यहाँ पर यदि टेट की शब्दावली का अवलंब लिया जाय तो कहा जा सकता है कि उक्त पंक्ति का पूर्वार्द्ध अंतस्तनाव है और उत्तरार्द्ध बहिस्तनाव। अब देखना यह है कि ये दोनों किस प्रकार मिलकर काव्य-चमत्कार को उत्पन्न कर रहे हैं। ऋष्यमूक पर्वत पर सीता के वस्त्राभूषणों को देखकर उनके वियोग में राम की जो दयनीय दशा हो रही है उसे देखकर लक्ष्मण, सुग्रीव तथा अन्य वानरों के हृदय में करुणा का संचार हो रहा है। उनके हृदय की इसी करुणा-धारा को रूपायित करने के लिए कवि ने घी के मटकों की द्रवणशीलता का सहारा लिया है। हम सभी जानते हैं कि गाँवों में स्त्रियाँ घी को प्रायः मिट्टी के मटकों में रखती हैं, कनस्तर का उपयोग कम ही किया जाता है। ये मटके इतनी एहतियात के साथ रखे जाते हैं कि वर्षों चलते हैं। इस बीच ये काफ़ी घी सोख चुके होते हैं। जब इन्हें थोड़ा-सा धूप में या अग्नि पर रखा जाता है तो सोखा गया घी उनके रंध्रों से रिसने लगता है। मटकों का पिघलना या

---

१. द मैन ऑफ़ लेटर्स इन द मॉडर्न वर्ल्ड, पृ० ७२

२. गीतावली, ४.१

रिसना गोचर बिंब है; लक्ष्मण, सुग्रीव तथा वानरों के हृदय में प्रवाहित करुणा सर्वथा अगोचर है। गोचरता द्वारा अगोचरता के कथन में निश्चय ही तार्किक विरोध है तथापि यह कथन अवैध नहीं है—मटकों की द्रवण-शीलता लक्ष्णादि के हृदयों की करुणा-धारा का संप्रेषण बड़े ही सशक्त रूप में कर रही है। द्रवणशील मटकों का बिंब पंक्ति के सारे अर्थ को अपने में समाहित किये बैठा है। यदि हम इस बिंब को नकारेंगे तो प्रस्तुत पंक्ति के अर्थ की सारी चारुता नष्ट हो जायेगी। इस प्रकार यहाँ पर गोचरता और अगोचरता का तनाव अथवा सामंजस्य एक अपूर्व चमत्कार की सृष्टि कर रहा है।

विरोध टेट के तनाव-सिद्धांत की अनिवार्य शर्त है। विलियम एंपसन ने भी विरोध को तनाव के लिए अपरिहार्य माना है। उनका कहना है कि रचना में विरोध जितना अधिक उभरकर सामने आयेगा, उतनी ही अधिक मात्रा में उसमें तनाव देखने को मिलेगा।[1]

**विवेचन :**

यों तो समीक्षा-क्षेत्र में टेट रैंसम के अनुयायी हैं तथापि वे उनकी सीमाओं से भी परिचित हैं। रैंसम के द्वारा कविता में अर्थ-विधान को नगण्य ठहराया जाना और मात्र शब्द-विधान को महत्त्व दिया जाना उनकी एकांगी और अतिवादी दृष्टि का परिचायक था। लेखक का मत है कि टेट ने निश्चित रूप से रैंसम की इस सीमा को निरखा और परखा होगा। इसीलिए वे आलोचना के क्षेत्र में एक पूर्णतर प्रतिमान को लेकर आये। उन्होंने काव्य के जिस तत्त्व को अंतस्तनाव की संज्ञा दी है, रैंसम की आलोचना में वही शब्द-विधान है। यहाँ पर ध्यातव्य यह है कि टेट ने काव्य के लिए न तो अंतस्तनाव को महत्त्व दिया और न ही बहिस्तनाव को; उनके मतानुसार दोनों का संतुलन ही सत्काव्य को जन्म देता है। भारतीय मनीषा ने भी 'सहित' शब्द के द्वारा इसी सामंजस्य पर बल दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि टेट का दृष्टि-कोण रैंसम की अपेक्षा अधिक व्यापक और संतुलित है।

यदि तनाव के पूर्वेतिहास पर दृष्टिपात किया जाय तो इसकी जड़ें बड़ी गहराई में जाती हुई दिखाई पड़ती हैं। विरोध तनाव का जनक है और इस तथ्य को ध्यान में रखने पर हम देखते हैं कि पाश्चात्य काव्यशास्त्र में पहली बार अरस्तू ने अपने विरेचन-सिद्धांत के प्रसंग में करुणा तथा त्रास-जैसी

---

१. सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, पृ० २३५

विरोधी चित्तवृत्तियों के सामंजस्य की बात कही है। इधर वर्तमान समीक्षक आई० ए० रिचर्ड्स ने भी काव्य की परख के लिए 'अंतर्वृत्तियों के समंजन' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। किंतु लेखक का विचार है कि टेट को अपने सिद्धांत-निरूपण में शायद अरस्तू और रिचर्ड्स के सिद्धांतों से उतनी सहायता नहीं मिली है जितनी कोलरिज के कल्पना-सिद्धांत से। तनाव के लिए 'विरोध' तथा 'सामंजस्य' जैसे तत्त्व तो अरस्तू तथा रिचर्ड्स के सिद्धांतों में देखे जा सकते हैं, किंतु अंतस्तनाव तथा बहिस्तनाव का जो बृहत्तर आधारफलक है वह इन दोनों के सिद्धांतों में लक्षित नहीं होता। इस आधारफलक की तलाश में हमें कोलरिज के कल्पना-तत्त्व को देखना होगा। इस विषय पर चर्चा प्रथम अध्याय में भी की जा चुकी है कि टेट के तनाव-सिद्धांत का मूल कोलरिज के द्वारा निरूपित कल्पना है; क्योंकि यही ऐसा तत्त्व है जो दो विसंवादी गुणों के बीच सामंजस्य की स्थापना किया करता है।

भारतीय काव्यशास्त्र के संदर्भ में देखते हुए प्रो० पी० एस० शास्त्री ने टेट के इस तनाव को रीति के समीप माना है— "टेट द्वारा रेखांकित 'संतुलन' 'विशिष्ट पदरचना' के रूप में व्याख्यात 'रीति' की भारतीय संकल्पना के समीप पड़ता है।"[1] लेखक का मंतव्य है कि प्रो० शास्त्री की इस मान्यता में अतिव्याप्ति दोष है। कारण बड़ा ही स्पष्ट है— रीति का क्षेत्र तनाव (प्रो० शास्त्री जिसे संतुलन कहते हैं) की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। भारतीय काव्यशास्त्र में यदि तनाव के समकक्ष कुछ है तो वह है 'समाधि' गुण; क्योंकि जिस प्रकार तनाव के लिए अंतस्तनाव और बहिस्तनाव अनिवार्य हैं उसी प्रकार समाधि के लिए भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत अप्रतिवार्य हैं; विरोध जिस प्रकार तनाव का अनिवार्य प्रतिबंध है उसी प्रकार समाधि का भी। प्राचीन भारतीय आचार्यों-द्वारा निरूपित समाधि के लक्षण को यदि भली प्रकार देख लिया जाय तो उक्त समताओं के स्पष्टीकरण में देर नहीं लगेगी। आचार्य भरत ने उपमा आदि के द्वारा उपदिष्ट तथा यत्नपूर्वक प्राप्त अर्थों के अतिशय संयोग को समाधि गुण का नाम दिया है—

उपमाद्युपदिष्टानामर्थानां यत्नतस्तथा।
प्राप्तानां चातिसंयोगः समाधिः परिकीर्त्यते ॥[2]

प्रस्तुत श्लोक में व्यवहृत 'अर्थों का अतिसंयोग' पदबंध हमें टेट के अंतस्तनाव तथा बहिस्तनाव के संतुलन का स्मरण दिलाता है। 'अर्थ' शब्द का

१. समन्विति, वर्ष १ अंक १ (अगस्त ७३—जनवरी ७४), पृ० २८
२. नाट्यशास्त्र, १७.९९

बहुवचनांत प्रयोग निश्चय ही एकाधिक अर्थ का सूचक है और जब ये अर्थ परस्पर विरोधी या अलग-अलग होंगे तभी उनमें अतिशय संयोग की कल्पना की जा सकती है, समानार्थी होने पर 'अतिसंयोग' की कल्पना एकदम निरर्थक हो जाती है।

दण्डी ने भी ऐसे स्थलों पर समाधि गुण माना है जहाँ कवि लोकसीमा का अतिक्रमण करके प्रस्तुत के धर्म का अप्रस्तुत में या अप्रस्तुत के धर्म का प्रस्तुत में सम्यक् आधान करता है —

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ।।[1]

यहाँ 'अनुरोध' का अर्थ निश्चय ही 'अतिक्रमण' है जो दण्डी के द्वारा दिये गये समाधि के इस उदाहरण से स्पष्ट है —

कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च ।
इति नेत्रक्रियाध्यासाल्लब्धा तद्वाचिनी श्रुतिः ।।[2]

अर्थात्, कुमुदिनियाँ बंद हो रही हैं (संकुचित हो रही हैं) और कमल खुल रहे हैं (खिल रहे हैं)। इस प्रकार यहाँ पर नेत्रों की खोलने और बंद करने की क्रियाओं का कुमुदिनी तथा कमल पर आरोप होने के कारण उसी क्रिया को उसके द्योतक शब्दों में रखा गया है।

'बंद होना' और 'खुलना' नेत्रों का व्यापार है, कुमुदिनियों तथा कमलों का नहीं। कुमुदिनियाँ और कमल या तो संकुचित हो सकते हैं, या फिर खिल सकते हैं। किंतु प्रस्तुत प्रसंग में कवि ने कुमुदिनियों के बंद होने और कमलों के खुलने का कथन कर असंदिग्ध रूप से लोकसीमा का अतिक्रमण किया है। यही अतिक्रमण समाधि गुण का प्राण है जो 'तनाव' के विरोध से भिन्न और कुछ नहीं है।

जहाँ तक वामन का प्रश्न है, समाधि गुण के विवेचन में उनका विशेष उत्साह लक्षित नहीं होता; क्योंकि समाधि शब्द-गुण का लक्षण देने के बाद भी उन्होंने उसका समाहार ओज और प्रसाद में कर दिया है और उसकी पृथक् कल्पना को नकार दिया है।[3] इसी प्रकार समाधि अर्थ-गुण के निरूपण में भी

१. काव्यादर्श, १.९३

२. काव्यादर्श, १.९४

३ काव्यालंकारसूत्र, ३ १.१२-१९

उनकी वृत्तियाँ रमी नहीं हैं, उस पर उन्होंने बड़े ही चलताऊ ढंग से विचार किया है।[1]

समाधि गुण के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि टेट का तनाव, शब्दों के हेर-फेर से, इसी का दूसरा नाम है, और फिर विशेष महत्त्व की बात तो यह है कि टेट ने भी तनाव को कविता के अनेक 'गुणों' ('क्वालिटीज़') में से एक गुण माना है।[2] यह बात अलग है कि उन्होंने इसी गुण को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। भारतीय काव्यशास्त्र में टेट के इस गुण का स्थानापन्न यदि कोई गुण है तो वह यही समाधि है।

## आर० पी० ब्लैकमर की 'भंगिमा'[3]

ब्लैकमर की दृष्टि में कविता के रचना-तंत्र में भंगिमा का बहुत अधिक महत्त्व है। अपने प्रसिद्ध निबंध 'लैंग्वेज ऐज़ जेस्चर' में उन्होंने भंगिमा के विषय में सामान्य धारणा का उल्लेख करते हुए कहा है कि भाषा का निर्माण शब्दों से होता है जबकि भंगिमा का निर्माण गति से।[4] शब्दांतर से, यदि भाषा शब्द-रूप है तो भंगिमा गति-रूप। जीवन के क्षेत्र में भंगिमा के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए ब्लैकमर लिखते हैं — "जब शब्दों की भाषा असफल हो जाती है तब हमें भंगिमा की भाषा की शरण लेनी पड़ती है।"[5]

यह भंगिमा, ब्लैकमर के मतानुसार, भाषा से सहज संबद्ध है। उनकी मान्यता है कि यदि आप इस भंगिमा को भाषा से काटते हैं तो आप भाषारूप वृक्ष की जड़ों को काटते हैं, और बदले में आपको यदि निर्जीव भाषा नहीं तो कम-से-कम ऐसी भाषा अवश्य मिलेगी जो मूलविहीन होने के कारण निरंतर सड़-गल रही है।[6] प्रस्तुत कथन के बाद ब्लैकमर को लगा कि उन्हें जिस प्रबलता के साथ भाषा में भंगिमा के महत्त्व को प्रदर्शित करना चाहिए था उस प्रबलता के साथ वे उसे प्रदर्शित नहीं कर पाये, और तब उन्होंने कहा कि भंगिमा भाषा के साथ सहजतः संबद्ध ही नहीं, वरन् उससे पहले आती है तथा अपेक्षाकृत अधिक मूल्यवान् अर्थ में। जहाँ कहीं प्रसंग की कल्पना करनी पड़ती है, वहाँ भंगिमा का अनिवार्यतः अवलंब लेना पड़ता है।[7] भाषा का सर्वोत्कृष्ट

---

१. काव्यालंकारसूत्र, ३.२.६-६

२. द मैन ऑफ़ लेटर्स इन द मॉडर्न वर्ल्ड, पृ० ६४

३. जेस्चर

४. लैंग्वेज ऐज़ जेस्चर, पृ० ३

५. वही, पृ० ३

६. वही, पृ० ४

७. वही, पृ० ४-५

प्रयोग तब तक नहीं किया जा सकता जब तक उसमें भंगिमा का गुण विद्यमान न हो।[1]

शब्दों के अर्थ-द्योतन में भंगिमा का बहुत बड़ा हाथ है। भाषा के आंतरिक और काल्पनिक अर्थ का भान भंगिमा ही कराती है। शब्दों की अर्थवत्ता में जो कार्य भंगिमा करती है उसका निरूपण कोश-द्वारा कथमपि संभव नहीं है; उसका पता तो तभी लगता है जब शब्दों का साथ-साथ प्रयोग होता है। भंगिमा वह अर्थवत्ता है जो शब्दों को गति प्रदान करती है, हमें गति प्रदान करती है।[2] ब्लैकमर के कथन का अभिप्राय यह कि काव्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ का ज्ञान कराने में कोश सर्वथा अशक्त है, उनके अर्थ को प्रकाशित करने वाली तो उनमें निहित भंगिमा ही है।

इस प्रकार ब्लैकमर ने अपने उक्त निबंधों में जीवन तथा काव्य में, विशेषत: काव्य में, भंगिमा के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। किंतु वे इसके क्षेत्र को और भी व्यापक मानते हैं। आगे चलकर उन्होंने स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, नृत्य, अभिनय तथा संगीत कलाओं में भी भंगिमा के महत्त्व की प्रतिष्ठा की है।

यह भंगिमा काव्य में किन-किन रूपों में व्यक्त होती है, इस पर ब्लैकमर ने बड़ी गंभीरता से विचार किया है। यहाँ इन रूपों का विवेचन अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि उनको देखे-भाले बिना ब्लैकमर की भंगिमाविषयक अवधारणा को पूर्णत: आत्मसात् करना संभव न होगा।

१. पुनरावृत्ति के रूप में– कुछ सीमा तक किसी भी शब्द अथवा शब्द-समूह को दो प्रकार से भंगिमा के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है — सामान्य पुनरावृत्ति द्वारा, और बदलते हुए संदर्भ में शब्दों की बार-बार आवृत्ति-द्वारा। सामान्य पुनारावृत्ति के निदर्शन-रूप में ब्लैकमर ने मैकबेथ के "कल और कल और कल" ("टुमारो एंड टुमारो एंड टुमारो") तथा लिअर के "कभी नहीं, कभी नहीं, कभी नहीं, कभी नहीं, कभी नहीं" ("नेवर नेवर नेवर नेवर नेवर") को प्रस्तुत किया है और बताया है कि इन सर्वाधिक प्रचलित शब्दों ने भी पुनरावृत्ति के द्वारा एक बहुत बड़ी भंगिमा को अपने में समेट लिया है। ब्लैकमर के मत से महत्त्व उस अर्थ का नहीं है जिसे शब्द सामान्यत: दिया करते हैं, वरन् उस अर्थ का है जिसका आधान शब्दों में पुनरावृत्ति किसी विशेष परिस्थिति में कर देती है।[3]

---

१. लैंग्वेज एेज़ जेस्चर, पृ० ६
२. वही, पृ० ६
३. वही, पृ० १३

एक ही शब्द अलग-अलग संदर्भों में आने पर किस प्रकार अपने अर्थों को बदलता है, इसका दिग्दर्शन कराने के लिए ब्लैकमर ने हैमलेट के सर्वाधिक प्रसिद्ध स्वगत कथन को अंशतः उद्धृत किया है —

"यदि मृत्यु का अर्थ मात्र निद्रा है, निद्रा से व्यतिरिक्त अन्य कुछ नहीं; और यदि इस मृत्यु-रूप निद्रा के द्वारा हम मानसिक यातनाओं तथा सहस्रों शारीरिक कष्टों को समाप्त कर सकते हैं तब तो यह (मृत्यु) ऐसी मुक्ति है जिसकी सश्रद्ध कामना की जानी चाहिये। किंतु यदि मृत्यु का अर्थ निद्रा है, ऐसी निद्रा जिसमें व्यक्ति संभवतः स्वप्न देखता है तब तो इसे दूर ही रखना है; क्योंकि इस नश्वर कलेवर से पीछा छुड़ाने के बाद मृत्यु की उस निद्रा में, पता नहीं, कैसे स्वप्न आयें, ऐसी स्थिति में हमें झिझकना ही चाहिये।"[1]

हैमलेट के इस स्वगत कथन पर ब्लैकमर-द्वारा दी गयी टिप्पणी पर आने से पूर्व उसे मूल रूप में प्रस्तुत करना अधिक उपयुक्त होगा, और तब शायद ब्लैकमर की बात कुछ अच्छी तरह समझ में आ सकेगी —

टु डाइ : टु स्लीप;
नो मोर; एंड बाइ ए स्लीप टु से वी इंड
द हार्टएक, एंड द थॉउज़ैंड नेचुरल शॉक्स
दैट फ्लेश इज़ हेअर टु, 'टिज़ ए कंज़ूमेशन
डिवाउटली टु बी विश'ड। टु डाइ, टु स्लीप;
टु स्लीप : पर्चांस टु ड्रीम; ऐ, दियर'स द रब;
फ़ॉर इन दैट स्लीप ऑफ़ डेथ व्हाट ड्रीम्स मे कम,
व्हेन वी हैव शफिल्ड, ऑफ़्फ़ दिस मॉर्टल क्वॉइल,
मस्ट गिव अस पाज़।

इन पंक्तियों में शेक्सपियर ने हैमलेट की द्विधाग्रस्त मानसिक स्थिति को बड़े ही सशक्त रूप में प्रस्तुत किया है। वह परिस्थितियों के हाथ का खिलौना बना रहे, अथवा उन पर टूट पड़े और उन्हें समाप्त कर दे, इनमें से किसी एक मार्ग के ग्रहण करने का वह निर्णय नहीं कर पा रहा है। उपर्युक्त पंक्तियाँ इसी संदर्भ में कही गयी हैं जो उसके मानसिक द्वन्द्व की परिचायक हैं। इन पर टिप्पणी करते हुए ब्लैकमर लिखते हैं कि यहाँ पर संदर्भ ही है जो मृत्यु (डाइ) और निद्रा (स्लीप), इन दो शब्दों के अर्थों का निर्धारण कर रहा है, और बदलता हुआ संदर्भ ही उन्हें भंगिमा का रूप दे रहा है, किंतु एक बार

१. हैमलेट, अंक ३, दृश्य १

निर्धारित हो जाने के बाद यह अर्थ-रूप भंगिमा सारे स्वगत कथन, यहाँ तक कि उसके बाद भी अपना कार्य करती है। जब ओफेलिआ हैमलेट से यह पूछती है कि आप कैसे हैं तब हैमलेट उत्तर देता है, "मैं नम्रतापूर्वक आपका धन्यवाद करता हूँ: अच्छा, अच्छा, अच्छा।" यहाँ भी हैमलेट के शब्दों की भंगिमा ही हमें हिंदोलित करती है उनका कोशगत अर्थ नहीं। मृत्यु और निद्रा, ये दोनों ही शब्द भंगिमा का रूप लेकर हैमलेट के मन के संशय और उद्वेग को प्रकट कर रहे हैं। ये ही संशय और उद्वेग उसके द्वारा ओफेलिआ के प्रति कहे गये शब्द 'अच्छा' की तीन बार आवृत्ति से और अधिक पुष्ट होते हैं।[1]

२. **प्रतीक के रूप में** — केनेथ बर्क की भाँति ब्लैकमर भी कविता की भाषा को प्रतीक-रूप मानते हैं।[2] प्रतीक कविता का बड़ा ही सशक्त साधन है। जिस अर्थ को, उसकी संपूर्णता के साथ, सीधे-सादे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता उसको व्यक्त करने के लिए प्रतीक का सहारा खोजना पड़ता है। प्रतीक में अर्थ-संप्रेषण की असीम शक्ति होती है; क्योंकि वह मात्र निश्चित अर्थों को ही नहीं देता, वरन् ऐसे भी अनेक अर्थों को उजागर करता है जिन्हें वह समय-समय पर अपने में समाहित करता रहता है। इसीलिए ब्लैकमर ने प्रतीक को अर्थ-पुंज कहा है।[3]

ब्लैकमर का मत है कि इन प्रतीकों के निर्माण में सबसे बड़ा योग भंगिमाओं का है। कालजयी प्रतीक वे ही होते हैं जो भंगिमा-द्वारा प्राप्त अर्थों के भाजन होते हैं।[4]

३. **श्लेष के रूप में** — ब्लैकमर के अनुसार जब किसी स्थान पर प्रयुक्त होकर कोई शब्द किसी अन्य शब्द-जैसा, अथवा अनेक शब्दों-जैसा व्यवहार करता है तब वहाँ श्लेष होता है।[5] उन्होंने श्लेष का सीमा-विस्तार करते हुए लय तथा अनुप्रास को भी इसी में समाहित कर लिया है। चूंकि लय और अनुप्रास का संबंध संपूर्णतः शब्दों की ध्वनियों से है इसलिए भाषा में इनका बहुत अधिक प्रयोग होता है। इन ध्वनि-तत्त्वों को अर्थ-तत्त्वों के साथ समंजित कराने का कार्य भंगिमा ही करती है।[6]

---

१. लैंग्वेज ऐज़ जेस्चर, पृ १५
२. वही, पृ० ३
३. वही, पृ० १६
४. वही, पृ० १६-१७
५. वही, पृ० १७
६. वही, पृ० १७

अपनी इस धारणा को स्पष्ट करने के लिए ब्लैकमर ने शेक्सपियर के दुःखांत नाटक 'हैमलेट' के प्रथम अंक, द्वितीय दृश्य से वह पंक्ति उद्धृत की है जिसमें होरेशिओ हैमलेट को सूचना देता है कि प्रेत लगातार दो रातों से "मध्य रात्रि के वीरान विस्तार (vast) में" देखा गया है। ब्लैकमर ने इस पंक्ति के 'वास्ट' शब्द को अपने विवेचन के लिए चुना है। उनका कहना है कि यह शब्द अपने इस रूप में केवल प्रथम क्वार्टो में ही मिलता है। द्वितीय क्वार्टो और प्रथम फ़ोलिओ में यह शब्द 'वास्ट' (Wast) है; द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ फ़ोलिओ में यही शब्द 'वेस्ट' (Waste) के रूप में दिखाई पड़ता है। यहाँ पर शब्द मुद्रित किसी भी रूप में क्यों न हो, किंतु उसका प्रभाव तीनों ही रूपों में स्पष्ट है और उस प्रभाव का एहसास किया जा रहा है। साथ ही इसके चतुर्थ रूप 'वेस्ट' (Waist) की संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता। जैसे ही हम पंक्ति को पढ़ते हैं वैसे ही एक साथ रात्रि के व्यापक खालीपन, उसके फैलते हुए सन्नाटे तथा उसकी मध्यता का आभास होता है, अंततः ये तीनों मिलकर एक ऐसे अर्थ को जन्म देते हैं, अर्थ की एक ऐसी भंगिमा को जन्म देते हैं, जिसका अनुभव तो हम बड़ी गहराई से करते हैं, किंतु जिसकी व्याख्या करना कहीं अधिक कठिन है।[1] भंगिमा के रूप में भाषा अर्थ की सर्जना करती है।[2]

४. **कथावस्तु, छंद और टेक के रूप में** — कथावस्तु के किन-किन भागों पर बल दिया जाना है और उसकी आवश्यकताएँ क्या-क्या हैं, इन सब बातों पर विचार करने के बाद ही यह निर्धारित किया जाता है कि उसके लिए कौन-कौन-सी भंगिमाएँ ज़रूरी हैं और आवश्यकतानुरूप उनका कहाँ-कहाँ पर आधान किया जाना है। कथावस्तु व्यापक स्तर पर बहुत-कुछ वही कार्य करती है जो छोटे स्तर पर छंद और टेक करते हैं। यदि हमारे अंदर मुट्ठी में अनंतता और क्षण में चिरंतनता को देखने की शक्ति नहीं है तो हम उन भंगिमाओं को बिलकुल नहीं देख सकते।[3]

कोलरिज के अनुसार छंद अर्थ की गति का नाम है। ब्लैकमर ने प्रस्तुत धारणा में थोड़ा हेर-फेर कर छंद की अर्थवत्ता गति में मानी है। उनका कथन है कि यदि गति-रूप छंद भंगिमा को अर्थ प्रदान करता है तब छंद-रूप गति

---

१. लैंग्वेज ऐज़ जेस्चर, पृ० १७-१८

२. वही, पृ० १९

३. वही, पृ० २०

भंगिमा को अर्थ से बाँधती है। यहाँ पर पारस्परिक बंधन की प्रक्रिया चलती है।[1]

सामान्यतः टेक का कार्य भी, छंद की ही भाँति, अनुभूतियों को व्यवस्था देना है, और इस रूप में हम कह सकते हैं कि टेक प्रभावशाली व्यवस्था का एक साधन है। किंतु इसका कार्य इससे भी वृहत्तर है; क्योंकि यह भंगिमा को एक परंपरागत रूप प्रदान कर अर्थ को भी संशोधित करती है। टेक को पुनरावृत्ति के ही समकक्ष मानते हुए ब्लैकमर कहते हैं कि यह भंगिमा को एक विशिष्ट रूप प्रदान करती है; इसके अभाव में भंगिमा का कोई आकार ही नहीं रह जायेगा। टेक उन समस्त भंगिमाओं का बड़ा ही प्रभावशाली मापक है जिनका सम्बन्ध स्थिरता में गति और गति में स्थिरता, परिवर्तन में स्थायित्व और स्थायित्व में परिवर्तन के आवर्तन, प्रत्यावर्तन, पुनर्जन्म तथा नूतन जन्म की घोषणा से है। यह स्वीकृति की प्रगीतात्मक और परिचय की प्रभावशाली भंगिमा है।

ब्लैकमर ने टेक को प्रभविष्णु बनाने में भाषा का बहुत बड़ा योग माना है। उनकी धारणा है कि यदि टेक को भाषा के विभिन्न उपकरणों-द्वारा निरंतर नूतनता प्रदान नहीं की जायेगी तो वह व्यवस्था का केवल साधन या उसकी सहायक बनकर रह जायेगी, और बोझ बनकर कविता को धराशायी कर देगी।

**विवेचन :**

भंगिमा जीवन का लक्षण है — भंगिमा अथवा गति के अभाव में जीवन की कल्पना ही संभव नहीं है। जब ब्लैकमर भाषा में भंगिमा की बात करते हैं तब वे भाषा के ऐसे गुण की ओर संकेत करना चाहते हैं जो उसे अनिवार्यतः जीवंतता प्रदान करता है। साहित्य के समस्त उपकरणों — वस्तु, अलंकार, प्रतीक, छंद आदि — की वाहक भाषा है; इसीलिए ब्लैकमर ने भंगिमा को भाषा के माध्यम से व्यक्त साहित्य के लघुतम अंग शब्द (पुनरावृत्ति, श्लेष आदि) से लेकर महत्तम अंग वस्तु तक में स्पंदित देखा है। पुनरावृत्ति, प्रतीक, श्लेष, लय, अनुप्रास, कथावस्तु, छंद और टेक, इन सभी में भंगिमा की कल्पना निःसंदेह ब्लैकमर के व्यापक और उदार दृष्टिकोण की परिचायक है।

ब्लैकमर-द्वारा कविता के प्रतिमान-रूप में भंगिमा की कल्पना कुछ वैसी ही है जैसी भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य क्षेमेन्द्र-द्वारा औचित्य की कल्पना।

---

१. लैंग्वेज ऐज़ जेस्चर, पृ० २०

यह सर्वविदित है कि औचित्य का क्षेत्र बड़ा व्यापक है — वह मात्र काव्य में ही नहीं, जीवन और जगत् के भी सभी क्षेत्रों में व्याप्त है; इसीलिए संप्रदाय के रूप में वह कभी प्रतिष्ठित न हो सका। भंगिमा भी बड़ा ही व्यापक गुण है, स्वयं ब्लैकमर ने उसकी चर्चा, काव्य के साथ-ही-साथ, स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, नृत्य, अभिनय तथा संगीत कलाओं के संदर्भ में की है। ऐसी स्थिति में भंगिमा को कविता का प्रतिमान मानना तर्कसंगत न होगा; क्योंकि यदि किसी तत्त्व को किसी विशिष्ट कला का प्रतिमान बनाया जाता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह इतरव्यावृत, मात्र उसी कला से संबद्ध हो। निश्चय ही भंगिमा ऐसा तत्त्व नहीं है और इसीलिए वह कविता का प्रतिमान बनने की भी अधिकारिणी नहीं है। फिर भी वह कविता के प्रत्येक तत्त्व में स्पंदित है, इसलिए उसका महत्त्व असंदिग्ध है।

## लिक्अंथ ब्रुक्स का 'विरोधाभास'[1]

अभी हाल ही में (१९७१ ई० में) प्रकाशित अपनी एक पुस्तक के निबंध 'पोइट्री एंड पोइटिकेलिटी' में एक स्थल पर ब्रुक्स ने लिखा है — "मेरी रुचि कविताओं के स्रोतों में नहीं, वरन् उनकी रचना में है; अर्थात्, मेरी रुचि इस बात में नहीं कि वे कैसे अस्तित्व में आयीं, वरन् उस सामग्री में है जो उनमें निहित है। मेरा आशय आपके समक्ष यह प्रस्ताव रखना है कि कविता की शक्ति और ऊर्जा उसके विषम और यहाँ तक कि परस्पर विरोधी (गुणों) के प्रयोग पर आधारित है और यह कि कोई भी कविता तब तक प्रामाणिक प्रतीत नहीं हो सकती जब तक वह अपने रचना-तंत्र में संसार के उन विरोधों को नहीं दर्शाती जिनका वास्तविक ज्ञान हमें अनुभव के द्वारा होता है।"[2]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि ब्रुक्स प्रामाणिक कविता में पारस्परिक विरोधों के समावेश को अनिवार्य मानते हैं। इसी निबंध में आगे चलकर उन्होंने एक बार फिर विरोधों और वैषम्यों को कविता का मूलभूत उपादान घोषित किया है।[3]

कविता में ब्रुक्स की विरोधाधान की यह धारणा उनके मानस से एकदम प्रस्फुटित नहीं हुई है, प्रत्युत उनके सुदीर्घ साहित्य-चिंतन की पुनरभिव्यक्ति

१. पैराडॉक्स
२. ए शेपिंग ज्वॉइ, पृ० ८९
३. वही, पृ० ९६

मात्र है। १९४२ ई० में ही उनका यह विश्वास दृढ़ हो गया था कि कविता की भाषा विरोधाभास की भाषा है। अपने प्रसिद्ध निबंध 'द लैंग्वेज ऑफ़ पैराडॉक्स में उन्होंने बड़े ही दृढ़ स्वर में कहा कि कविता के लिए जो भाषा उपयुक्त और अप्रतिवार्य है वह विरोधाभास की ही भाषा है। वैज्ञानिक के सत्य के लिए ही ऐसी भाषा आवश्यक है जिसमें विरोधाभास का लेश भी न हो; जिस सत्य का उद्गाता कवि है उस तक तो विरोधाभास के माध्यम से ही पहुँचा जा सकता है।[1]

कविता का जन्म विरोधी प्रतीत होने वाली परिस्थिति से ही होता है।[2] विरोधोक्तियाँ कवि की भाषा से नैसर्गिक रूप में उच्छलित होती हैं। यही वह भाषा है जिसमें लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ समान भाव से अपना कार्य करते हैं। विज्ञान की प्रवृत्ति शब्दों को अनिवार्यतः जड़ बना देने की है, इन्हें निश्चित अर्थों में बाँध देने की है; जबकि कवि की प्रवृत्ति इसके ठीक विपरीत शब्दों के विघटन की है। कवि के द्वारा प्रयुक्त शब्द निरंतर एक-दूसरे का संशोधन करते हैं और इस प्रकार अपने कोशगत अर्थों का अतिक्रमण करते हैं।[3]

विरोधाभास को ब्रुक्स ऐसा उपकरण मानते हैं जिसके द्वारा कवि अपनी भाषा में उस संक्षिप्तता और उस सटीकता को ला पाता है जो अन्यथा अगम्य हैं।[4] विडंबना और आश्चर्य, इस विरोधाभास के सहगामी तत्त्व हैं।[5] अर्थात्, कविता में विरोधाभास या तो विडंबना पर आधारित होगा, या आश्चर्य पर, अथवा फिर उसका आधार ये दोनों तत्त्व एक साथ भी हो सकते हैं। यदि नव्यशास्त्रवादी कविता में विरोधाभास का मूलाधार विडंबना है तो रोमानी कविता में विरोधाभास आश्चर्य पर आधारित है, ब्लैक की प्रगीतियों तथा कोलरिज की 'एंशिएंट मैरिनर' कविता में विरोधाभास को विडंबना और आश्चर्य, दोनों ही उजागर कर रहे हैं।

ब्रुक्स का यह दृढ़ अभिमत है कि सीधे-से-सीधे और सरल-से-सरल कवि की कविता भी विरोधाभास से अछूती नहीं रह सकती।[6] यही कारण है कि

---

१. द वेल रॉट अर्न, पृ० १
२. वही, पृ० ३
३. वही, पृ० ६
४. वही, पृ० ७
५. वही, पृ० १३
६. (अ) वही, पृ० ६
(आ) वही, पृ० ७

उन्होंने वर्ड्सवर्थ के द्वारा 'वेस्टमिंस्टर ब्रिज' पर लिखित चतुर्दशपदी में भी विरोधी प्रतीत होनेवाली परिस्थितियों को खोज निकाला है और कहा है कि इस कविता की शक्ति इन विरोधी प्रतीयमान परिस्थितियों में ही निहित है।

विरोधाभास ब्रुक्स का ऐसा मापदंड है जिसके आधार पर उन्होंने अपने ग्रंथ 'द वेल रॉट अर्न' में शेक्सपियर से लेकर डब्ल्यू० बी० यीट्स तक के लगभग सभी प्रतिनिधि कवियों की प्रमुख रचनाओं को मापा है। वे ऐसे किसी कवि की प्रशंसा नहीं करते जिसकी कविताओं में विरोधमूलक परिस्थितियों का अंकन न हो।

इसमें संदेह नहीं कि ब्रुक्स ने अपने इस विरोधाभास के सिद्धांत को मुखरता तो १९४२ ई० में 'द लैंग्वेज ऑफ़ पैराडॉक्स' निबंध लिखकर ही प्रदान की; किंतु इसकी जड़ें उनके चिंतन में इससे भी पुरानी हैं। उनका निबंध 'विट एंड हाई सीरियसनेस' इससे भी पूर्व लिखा गया है। इसमें उन्होंने कीट्स की कविता 'द ओड टु ए नाइटिंगेल' की अत्यंत प्रसिद्ध निम्नांकित पंक्तियों का विश्लेषण करते हुए बताया है कि सातवें बंद का अंतिम शब्द किस प्रकार विडंबना का आधार ग्रहण कर आठवें बंद की एकदम विरोधी परिस्थिति को जन्म दे देता है —

द सेम दैट ऑफ़्ट-टाइम्स हैथ
चार्म्ड मैजिक केसमेंट्स, ओपेनिंग ऑन द फ़ोम
ऑफ़ पेरिलस सीज़, इन फ़ेयरी लैंड्स फ़ॉर्लॉर्न।
फ़ॉर्लॉर्न ! द वेरी वर्ड इज़ लाइक ए बेल
टु टॉल मी बैक, फ़ॉम दी टु माइ सोल सेल्फ़ —

(हिंदी-अनुवाद में प्रस्तुत पंक्तियों के चमत्कार का मूलकारणभूत शब्द 'फ़ॉर्लॉर्न' अपना रूप खो बैठता, इसीलिए यहाँ पर हिंदी-अनुवाद न देकर मूल को ही प्रस्तुत किया गया है।

कीट्स की इन पंक्तियों का विश्लेषण करते हुए ब्रुक्स ने लिखा है — "प्रथम बार तो 'फ़ॉर्लॉर्न' शब्द का प्रयोग मूलतः अपने प्राचीन अर्थ में ही हुआ है — "संपूर्णतः विलुप्त"। परी देशों का संबंध उस अतीत से है जो दूर, कहीं बहुत दूर खो चुका है। किंतु जब कवि इस 'फ़ॉर्लॉर्न' शब्द की आवृत्ति करता है तब उसका अर्थ निश्चित रूप से बदल जाता है। यहाँ पर उसका अर्थ है, 'दयनीय', 'असहाय'। अपने इस अर्थ में यह शब्द कवि की

अपनी दशा का वर्णन करता है, और जैसा कि वह कविता में स्वयं सहसा अनुभव करता है, यह शब्द उसके साथ भी लागू होता है। यह कैसी विडंबना है कि जो विशेषण पक्षी के द्वारा संकेतित कल्पना-जगत् का वर्णन करने के लिए प्रयुक्त हुआ है उसी का प्रयोग कवि की अपनी दशा का वर्णन करने के लिए भी हो सकता है। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव कुछ-कुछ ऐसा है जैसे दिवास्वप्नमग्न कोई व्यक्ति सहसा लड़खड़ा जाये और हठात् झटके के साथ अपने सपनों के संसार से बाहर आ पड़े। यथार्थ जगत् की अपनी कुछ माँगें होती हैं; कल्पना का संसार चाहे कितना ही सुंदर क्यों न हो, कोई भी व्यक्ति वास्तविकता से मुक्ति पाकर हमेशा के लिए उसमें नहीं रह सकता। वस्तुतः कविता का सामान्य कथ्य निम्नांकित विरोधाभास के द्वारा वर्णित किया जा सकता है: कल्पना का संसार वास्तविकता के दुःखद संसार से मुक्ति का संदेश देता है तथापि यह कल्पना-जगत् विरोध के द्वारा वास्तविकता के संसार को और अधिक दुःखदायी बना देता है। इस प्रकार कीट्स-द्वारा 'फ़ॉर्लॉर्न' शब्द की आवृत्ति में समग्र कविता के कथ्य का निचोड़ समाहित है। विडंबना की पहचान कविता की गंभीरता को घटाती नहीं, प्रत्युत बढ़ाती ही है।"[1]

कीट्स की कविता की पंक्तियों के इस विश्लेषण पर सोमराज गुप्त ने अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा है — "इस टिप्पणी से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार वक्रता तथा विरोधाभास का प्रयोग किसी स्थिति विशेष के प्रति कविता के दृष्टिकोण को अधिक 'व्यापकता' प्रदान कर देता है। कीट्स ने न तो कल्पना के संसार को अस्वीकार किया है, न वास्तविकता के संसार को। इन दोनों — कल्पनापरक तथा यथार्थपरक — अभिवृत्तियों के सामंजस्य से कविता में ऐसी गहराई और गंभीरता आ जाती है जो हमें उस कविता में नहीं मिलती जिसका दृष्टिकोण एकांकी और कृत्रिम सरलता लिए हुए होता है: जैसे आगस्टन अथवा विक्टोरियन कविता की रचनाएँ। चूँकि हर महान् कविता का लक्ष्य अनुभूतिगत अन्विति का नाटकीकरण होता है, इसलिए उसे स्वभावतः वक्रता तथा विरोधाभास का सहारा लेना पड़ता है।"[2]

प्रसाद की अधोलिखित कविता ब्रुक्स के विरोधाभास को संभवतः भली प्रकार स्पष्ट कर सकेगी —

---

१. मॉडर्न पोइट्री एंड द ट्रेडिशन, पृ० ३१

२. समन्विति, वर्ष १, अंक १ (अगस्त ७३—जनवरी ७४), पृ० ७९

मधुप गुनगुना कर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझाकर गिर रहीं पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी ।
इस गंभीर अनंत नीलिमा में असंख्य जीवन-इतिहास —
यह लो, करते ही रहते हैं अपना व्यंग्य-मलिन उपहास ।
तब भी कहते हो — कह डालूँ दुर्बलता अपनी-बीती ।
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे — यह गागर रीती ।
किंतु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले —
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले ।
यह विडंबना ! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं ।
भूलें अपनी, या प्रवंचना औरों की दिखलाऊँ मैं ।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की ।
अरे खिलखिला कर हँसते होने वाली उन बातों की ।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया ?
आलिंगन में आते-आते मुस्क्या कर जो भाग गया ?
जिसके अरुण-कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में ।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में ।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पंथा की ?
सींवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कंथा की ?
छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ ?
सुनकर क्या तुम भला करोगे — मेरी भोली आत्म-कथा ?
अभी समय भी नहीं — थकी सोई है मेरी मौन व्यथा ?[१]

कविता की बाईस पंक्तियों में से कवि ने प्रथम चार पंक्तियों में सामान्य कथन के द्वारा वह पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है जिसमें से वह अपनी वियोग-व्यथा को उकेरना चाहता है । अगली आठ पंक्तियों में ऊपर से देखने पर जान पड़ता है जैसे कवि अपनी व्यथा को छिपाना चाह रहा हो, किंतु उसकी व्यथा 'अपनी-बीती दुर्बलता', 'रीती गागर' तथा 'भूलें' जैसे शब्द-समूह के द्वारा और अधिक गहरा कर बड़े ही सशक्त रूप में उभर रही है । विडंबना तो यह है कि जो व्यक्ति कवि की रूप-पिपासा-रूप दुर्बलता का कारण है, जिसकी अप्राप्ति ने उसके जीवन की गागर को रीता बना दिया है और जिसके प्रणय-

१. लहर, पृ० ११

पाश में बँधने की उसने भूल की है वही बड़े सरल भाव से उसकी व्यथा का कारण जानना चाहता है। शायद कोई अन्य व्यक्ति यदि कवि से उसकी वेदना का कारण पूछता तब उसकी वेदना उतने प्रखर रूप में न उभरती जितने प्रखर रूप में वह वेदना के स्वयं कारणभूत व्यक्ति के द्वारा कवि से पूछे जाने की मौजूदा हालत में उभर रही है। इस प्रकार कवि ने प्रथम बारह पंक्तियों में लोकसामान्य कथन की पृष्ठभूमि पर प्रणय-पात्र के साथ अपने संलाप के द्वारा अपनी वियोग-व्यथा को भली प्रकार गहराने का कार्य पूर्ण कर लिया है।

अब कार्य रह जाता है इस वियोग-व्यथा को घनत्व प्रदान करने का। कवि ने इसके लिए अगली छह पंक्तियों में एक युक्ति का प्रश्रय लिया है और वह है नितांत विरोधी स्थिति के अंकन की युक्ति। यह विरोध जितना अधिक विप्रकर्षी होगा उतनी ही उसमें सहृदयसंवेद्यता होगी। यह सर्वविदित है कि संयोग वियोग का एकदम विरोधी है। वियोग-व्यथा से अवसादग्रस्त कवि के मानस-पटल पर संयोग की उल्लासमय घड़ियाँ 'फ्लैश बैक' के रूप में कौंधती हैं — उसे याद आती हैं मिलन की मधुर चाँदनी रातें, खिलखिलाहट से भरी हुई हँसी के साथ होनेवाली बातें, प्रणय-पात्र का आलिंगन में आते-आते मुस्करा कर भाग जाने का सुख-स्वप्न, और उसके अरुण कपोल। यह विडंबना ही है कि संयोग के क्षणों का यह मधुर उल्लास कवि के चिर वियोग की व्यथा में परिणत हो जाता है। यहाँ कवि ने मिलन की मोहक स्मृतियों के द्वारा अपनी वेदना को और अधिक घनीभूत बना दिया है। यह वेदना तब और भी अधिक सघन हो उठती है जब पाठक थोड़ा रुककर कविता की विरोधी स्थितियों पर दृष्टिपात करता है — यदि एक ओर गंभीर अनंत नीलिमा है तो दूसरी ओर मधुर चाँदनी रातें हैं; यदि एक ओर ऐसे असंख्य जीवन-इतिहास हैं जो अपना व्यंग्य-मलिन उपहास करते ही रहते हैं तो दूसरी ओर खिलखिला कर हँसते होनेवाली बातों की उज्ज्वल गाथा है; यदि एक ओर रीती गागर है तो दूसरी ओर आलिंगन का सुख-स्वप्न; यदि एक ओर भूलें हैं तो दूसरी ओर अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया है जहाँ पर भूलों का नाम-निशान तक नहीं है। इन विरोधी परिस्थितियों ने व्यथा को इतना अधिक उभार दिया है कि अंतिम छह पंक्तियों में वह कवि के हृदय पर एक बोझ बनकर बैठ गयी है। व्यथा की इसी भारातिशयता के कारण वह उसे अब व्यक्त करने में भी अपने को असमर्थ पाता है। इसीलिए थककर सोई हुई अपनी मौन व्यथा को वह छेड़ना नहीं चाहता है। साथ ही वह अपनी

व्यथा की अभिव्यक्ति इसलिए भी नहीं करना चाहता; क्योंकि वह जानता है कि उसका प्रणय-पात्र उसे सुनकर उसकी खिल्ली उड़ायेगा।

प्रसाद की इस कविता में जो विरोधी स्थिति काव्य-सौंदर्य की विधायक है उसका मूलाधार (ब्रुक्स के अनुसार) विडंबना है। इससे बडी विडंबना और क्या हो सकती है कि जो व्यक्ति कवि की वेदना का कारण है वही उससे वेदना का कारण पूछ रहा है।

**विवेचन :**

ब्रुक्स के विरोधाभास का प्रेरणा-स्रोत निश्चित रूप से कोलरिज की वह कल्पना है जिसे दो विरोधी गुणों का समन्वय करनेवाली शक्ति माना गया है। स्वयं ब्रुक्स ने अपने निबंध 'द लैंग्वेज ऑफ़ पैराडॉक्स' में कोलरिज की कल्पनाविषयक धारणा को उद्धृत किया है।[1] इससे लेखक का उपर्युक्त मंतव्य और भी अधिक पुष्ट होता है। यों आई० ए० रिचर्ड्स के अंतर्विरोधों के सामंजस्य-सिद्धांत का भी प्रभाव इस पर कम नहीं है। नये समीक्षकों में एलेन टेट के तनाव-सिद्धांत से यह बहुत-कुछ मिलता है; क्योंकि तनाव का प्रमुख आधार विरोध ही है। अंतर दोनों में यह है कि तनाव जहाँ गुण-रूप है, वहाँ विरोधाभास अलंकार-रूप है। अलंकार-रूप होने से जहाँ विरोधाभास का एक सुस्पष्ट बिंब उभरता है, वहाँ गुण या भाव-रूप होने के कारण तनाव किसी निश्चित बिंब की सृष्टि नहीं कर पाता। विरोधाभास के आधार पर ब्रुक्स द्वारा विश्लेषित कतिपय कविताओं से पता चलता है कि इस सिद्धांत के लिए उन्होंने बहुत-कुछ विलियम एंपसन के उस अनेकार्थता-सिद्धांत से लिया है जिसकी चर्चा आगे चलकर की जायेगी। (काल-क्रम की दृष्टि से ब्रुक्स एंपसन से पहले आते हैं, इसीलिए, एंपसन-द्वारा अनेकार्थता के सिद्धांत की स्थापना विरोधाभास से पहले कर दिये जाने पर भी, यहाँ विरोधाभास पर अनेकार्थता से पहले विचार किया गया है।)

भारतीय काव्यशास्त्र में विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति तथा विषम, ये जितने भी विरोधमूलक अलंकार हैं वे सारे ब्रुक्स के विरोधाभास के ही समकक्ष हैं। कारण यह कि विरोधाभास की भाँति ही विरोधमूलक अलंकारों का प्राण भी विरोध ही है। इन अलंकारों के अतिरिक्त भारतीय काव्यशास्त्र में कतिपय अलंकार ऐसे हैं जिनमें कभी-कभी विरोध का चमत्कार देखने को मिल जाता है — वक्रोक्ति, यमक और श्लेष ऐसे ही अलंकार हैं। अतः प्रतीयमान विरोध की स्थिति में ये अलंकार भी ब्रुक्स के

---

१. द वेल रॉट अर्न, पृ० १३-१४

विरोधाभास की सीमा का स्पर्श करने लग जाते हैं। यहाँ पर यह प्रश्न उठना बड़ा स्वाभाविक है कि विरोधाभास का मूलाधार तो विडंबना या आश्चर्य, अथवा दोनों होते हैं जबकि भारतीय आचार्यों ने विरोधमूलक अलंकारों के लक्षण-निरूपण में इन तत्त्वों की कहीं चर्चा ही नहीं की; ऐसी स्थिति में विरोधमूलक अलंकारों को विरोधाभास के समकक्ष कैसे माना जा सकता है ? उत्तर बड़ा ही स्पष्ट है, और वह यह कि विरोधाश्रित अलंकारों में तो ये तत्त्व निसर्गतः ही अंतर्मुक्त हैं; इसीलिए भारतीय मेधा ने जान-बूझकर इन तत्त्वों का अलग से कथन नहीं किया।

जहाँ तक विरोधाभास को कविता के एक उपस्कारक तत्त्व के रूप में स्वीकार करने का प्रश्न है वहाँ तक तो ब्रुक्स से वैमत्य व्यक्त करने का कोई अवकाश नहीं है, किंतु कठिनाई उपस्थित तब होती है जब ब्रुक्स इसकी प्रतिष्ठा कविता के मूल तत्त्व अथवा प्राण के रूप में करने के लिए कटिबद्ध दिखायी पड़ते हैं। आखिरकार रीति, गुण, वक्रोक्ति आदि अन्य भी तो ऐसे तत्त्व हैं जो कविता में चमत्कार की सृष्टि करते हैं। विरोधाभास को सिद्धांत-रूप में स्थापित करने की झोंक में ब्रुक्स इस तथ्य को भले ही न देख पाये हों, किंतु थोड़ा रुककर सोचने के क्षणों में उनकी पैनी दृष्टि अपनी भूल को देख ही गयी है। तभी तो आगे चलकर उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में लिखा — "'कविता के लिए विरोधाभास की भाषा ही उपयुक्त और अनिवार्य है', मेरा यह दावा, मैं मानता हूँ, एक अतिवादी वक्तव्य था किंतु यदि इस प्रकार का अतिवादी वक्तव्य 'काव्य-प्रकृति के उन तत्त्वों पर प्रकाश डालने में समर्थ हो पाता है जिनकी सामान्यतः उपेक्षा की जाती है' तो मेरा विचार है, इस प्रकार का वक्तव्य न्याय्य ठहराया जा सकेगा।"[1]

## विलियम एंपसन की 'अनेकार्थता'[2]

यद्यपि विलियम एंपसन के द्वारा प्रयुक्त शब्द 'ऐंबिगुइटी' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ 'द्वयर्थता' है तथापि उन्होंने इस शब्द का प्रयोग 'अनेकार्थता' के अर्थ में किया है। फिलिप व्हीलराइट का तर्क है कि एंपसन के द्वारा व्यवहृत और विश्लेषित इस शब्द में अनेकार्थता के साथ-ही-साथ संदेह और उलझाव की स्थिति भी अंतर्मुक्त है, इसीलिए इस शब्द के स्थान पर उन्होंने 'बहुसांकेतिकता' ('प्लुरिसिग्नेशन') शब्द के प्रयोग की सिफारिश की है।[3] लोक-व्यवहार में संदिग्ध,

---

१. द वेल रॉट अर्न, १९५८ ई० के संस्करण का भूमिका-भाग, पृ० ९

२. ऐंबिगुइटी

३. द बर्निंग फ़ाउंटेन, पृ० ६१

उलझनपूर्ण और अनेकार्थक कथन सामान्यत: दोष की सीमा में परिगणित किया जाता है, किंतु काव्य में यथावसर प्रयुक्त होने पर यही कथन गुण का रूप धारण कर अपूर्वचमत्कारविधायक बन जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में भी तो श्लेष अनेकार्थता के ही चमत्कार का सर्जक है। यही कारण है कि एंपसन ने अनेकार्थता को काव्य का सार घोषित करते हुए लिखा है — "अनेकार्थता की युक्तियाँ कविता की मूल हैं।"[1] परिस्थितियाँ जितनी ही अधिक रोचक और महत्त्वपूर्ण होंगीं, काव्य के लिए अनेकार्थता उतनी ही अधिक अनिवार्य होगी।[2]

अनेकार्थता के स्वरूप के विषय में एंपसन के शब्द हैं — "सामान्य बोल-चाल में अनेकार्थता का आशय सर्वथा स्पष्ट है, अपने इस रूप में वह नियमत: वैदग्ध्य एवं प्रवंचना से युक्त रहती है, किंतु मैं इस शब्द का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में कर रहा हूँ — यहाँ पर इस शब्द से अभिप्राय ऐसी शाब्दी अर्थच्छाया से है, चाहे वह कितनी भी स्वल्प क्यों न हो, जो भाषा के किसी एक ही खंड के प्रति विकल्पात्मक प्रतिक्रियाओं का अवकाश प्रदान करती है।"[3] अपनी इसी धारणा को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि किसी स्थिति को अनेकार्थक तभी माना जायेगा जब उसमें कोई शब्द अथवा कोई वाक्य एक साथ ही अनेक रूपों में सक्रिय तो उठे।[4] "एक शब्द के अनेक अलग-अलग अर्थ हो सकते हैं; इनमें से कई ऐसे अर्थ हो सकते हैं जो एक-दूसरे से संबद्ध हों; कई ऐसे अर्थ हो सकते हैं जिन्हें अपना आशय पूर्ण करने के लिए एक-दूसरे की अपेक्षा हो; अथवा कई ऐसे अर्थ हो सकते हैं जो एक-दूसरे से इस प्रकार अन्वित हो रहे हों कि शब्द किसी विशिष्ट संबंध अथवा प्रक्रिया का द्योतक बन जाय। यह ऐसा मापदंड है जिसका सतत अनुकरण किया जाना चाहिए। अनेकार्थता का अर्थ, आप जो कुछ कहना चाहते हैं उसके विषय में अनिश्चय भी हो सकता है, अनेक पदार्थों को व्यक्त करने की इच्छा भी हो सकता है, ऐसी संभावना भी हो सकता है जिसमें दो पदार्थों में से एक या दूसरे अथवा दोनों को ही व्यक्त किया गया हो, और ऐसा तथ्य भी हो सकता है जिसमें एक ही कथन के अनेक अर्थ हों।"[5]

---

१. सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, पृ० ३
२. वही, पृ० २३५
३ वही, पृ० १
४. वही, पृ० ३
५. वही, पृ० ५-६

संभवतः अपनी अनेकार्थता की इसी व्यापकता के कारण एंपसन को 'सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में लिखना पड़ा — "मैं 'अनेकार्थता' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में भी चाहूँ, करूँगा।"[1]

इस अनेकार्थता के प्रति एंपसन का मोह इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने इसके स्वरूप और वर्गीकरण पर पूरा ग्रंथ ही लिख मारा है। अपने इस ग्रंथ के आरंभ में अनेकार्थता के पूर्वोल्लिखित स्वरूप पर विचार करने के उपरांत उन्होंने कविता में 'विशुद्ध ध्वनि' और 'वातावरण' की समस्याओं को लिया है और इसके तत्काल बाद वे अनेकार्थता के वर्गीकरण की ओर आ जाते हैं। उन्होंने इसे सात वर्गों में विभक्त किया है, जिसके अंतर्गत शब्दार्थजन्य चमत्कार के अनेक रूपों को समेटने का प्रयास किया गया है, किंतु उनका यह वर्गीकरण अनेकार्थता की इयत्ता का नहीं, ईदृक्ता का ही सूचक है।

**अनेकार्थता का प्रथम रूप** — प्रथम प्रकार की अनेकार्थताएँ वहाँ होती हैं जहाँ कोई विवरण एक साथ ही अनेक रूपों में सक्रिय हो उठता है। एंपसन ने इन अनेकार्थताओं को पाँच भागों में रखा है —

(क) **समान धर्म की तुलना**—अनेकार्थता का यह रूप कवियों मे बहु-प्रचलित है। फिर भी स्पष्टीकरण के लिए एंपसन-द्वारा उद्धृत मिस सिट्वेल की निम्नांकित पंक्ति को देखा जा सकता है —

प्रकाश रेंक रहा है एक गर्दभ की भाँति।[2]

यहाँ पर 'रेंकना' प्रकाश और गर्दभ का समान धर्म है। यों तो ऊपर से देखने पर यह पंक्ति बड़ी सरल-सी जान पड़ रही है तथापि पाठक के द्वारा इसके अर्थ को आत्मसात् करने के लिए, एंपसन के मत में, सह-अनुभूति की आवश्यकता है; अर्थात्, इसके अर्थ के अवगमन के लिए पाठक को रचनाकार की अनुभूति के धरातल पर आना पड़ेगा।

(ख) **विषमता का आभास** — इसमें उक्ति की आलंकारिक योजना कुछ इस प्रकार की जाती है कि शब्द एक-दूसरे के विपरीत जान पड़ते हैं, किंतु इन शब्दों के द्वारा उस गुण का कथन नहीं किया जाता जिसके कारण वे विरोधी प्रतीत होते हैं।[3] एंपसन ने इस प्रकार की अनेकार्थता के लिए पीकॉक की

१. सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, भूमिका-भाग, पृ० ८
२. सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, पृ० १२
३. वही, पृ० २१-२२

कविता 'वार सांग' से अधोलिखित पंक्तियों को प्रस्तुत किया है —

संघर्ष में व्यामोहित, हमने वहाँ
इतना रक्त बहाया कि उसमें तैर जायँ;
हमने अनाथ बनाया अनेक शिशुओं को
और विधवा बनाया अनेक नारियों को।
(मरभुखे) बाज और कौवे
भकोस गये हमको और हमारे शत्रुओं को;
वीरों को और कायरों को
कुंतधारियों को और धनुर्धारियों को।

सातवीं पंक्ति में 'वीरों' के साथ-साथ 'कायरों' का कथन विरोध की प्रतीति कर रहा है, किंतु यहाँ वस्तुतः विरोध है नहीं; क्योंकि कवि की जो मनःस्थिति है वह वीरों और कायरों में भेद करने की नहीं है; प्रत्युत इस स्थिति में तो वह देख रहा है कि मृत्यु ने वीरों और कायरों को समान धरातल पर लाकर रख दिया है।

(ग) **तुलनात्मक विश्लेषण** — इस प्रकार की अनेकार्थता में ऐसे तुलनात्मक विशेषणों का प्रयोग किया जाता है जो यह नहीं बताते कि जिस विशेष्य की तुलना की जानी है वह है क्या। क्योंकि एक अर्थ में सभी विशेषण तुलनात्मक होते हैं इसलिए अनेकार्थता का यह स्रोत पर्याप्त सामान्य होता है।[1] एंपसन ने इसके लिए मिस्टर वैली के चीनी अनुवादों से दो पंक्तियाँ प्रस्तुत की हैं —

स्मृति से परे वर्ष, बड़ी तेज़ी से गुज़र रहे हैं।
पवित्र है वसंत के इस भोर की स्थिरता।

ऊपर के उदाहरण में 'तेज़' और 'स्थिर' तुलनात्मक विशेषण हैं; किंतु ये दोनों क्रमशः वर्षों और भोर के क्षणों के विषय में कुछ नहीं बताते — मानव-जीवन से इन वर्षों और क्षणों का क्या संबंध है, इसका अनुमान स्वयं पाठक को लगाना पड़ता है।

(घ) **अस्पष्ट रूपक** — अनेक दृष्टियों से प्रयोज्यमान रूपकों में ही उन रूपकों को भी सम्मिलित किया जा सकता है जो अंशतः तो रूपक के रूप में स्वीकार किये जाते हैं और अंशतः मात्र शब्दों के रूप में।[2] उदाहरणार्थ, नैश

---

१. सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, पृ० २३
२. वही, पृ० २५

की कविता 'समर्'स लास्ट विल एंड टेस्टामेंट' की ये दो पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं —

> सौंदर्य मात्र एक पुष्प है
> जिसे झुर्रियाँ खा जायेंगीं ।

यों तो 'खाना' एक सामान्य शब्द है, किंतु यहाँ पर वह एक रूपक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। प्रस्तुत संदर्भ में इसका अर्थ है — 'दूर करना' अथवा 'स्थान ग्रहण करना' ।

(ङ) **लय-द्वारा संकेतित अतिरिक्त अर्थ** — कभी-कभी छंद-योजना कविता की व्याख्या को जटिल बना देती है ।[1] ऐसा प्रायः तब होता है जब लय के अनुरोध से एक ही वाक्य के एकाधिक अर्थ भासित होने लगते हैं । चूँकि अनुवाद में सारी लय-योजना लुप्त हो जाने का भय है, इसलिए उक्त अनेकार्थता को स्पष्ट करने के लिए ब्राउनिंग की कुछ पंक्तियाँ अपने मूल रूप में ही प्रस्तुत की जा रही हैं —

> आइ वांट टु नो ए बुचर पेंट्स,
> ए बेकर राइम्स फ़ॉर हिज़ परसूट,
> कैंडिलस्टिक-मेकर, मच एक्वेंट्स
> हिज़ सोल विद साँग, ऑर, हैप्ली म्यूट,
> ब्लोज़ ऑउट हिज़ ब्रेन्स अपॉन द फ़्ल्यूट ।

प्रस्तुत बंद की लय-योजना का रूप है — ए बी, ए बी बी । अपनी इसी लय-योजना के कारण बंद के कथनों में संक्षिप्तता आ गयी है जो व्याख्या में कठिनाई उपस्थित कर रही है । निदर्शनार्थ, प्रथम पंक्ति को ही ले लिया जाय । इस पंक्ति का शाब्दिक अनुवाद होगा — 'मैं जानना चाहता हूँ एक कसाई को जो चित्रकारी करता है ।' अब इस कथन के कई अर्थ हो सकते हैं — १. मैं जानना चाहता हूँ कि क्या सारी कसाई-जाति चित्रकारी करती है; २. मैं जानना चाहता हूँ कि क्या कोई ऐसा कसाई है जो चित्रकारी करता है; ३. मैं ऐसे विशिष्ट कसाई को जानना चाहता हूँ जो चित्रकारी करता है; आदि-आदि । अर्थ की इस जटिलता की जनक बंद की वह लय-योजना है जो प्रस्तुत कथन को संक्षिप्त बना रही है ।

---

1. सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, पृ० २८

**अनेकार्थता का द्वितीय रूप** — अनेकार्थता के द्वितीय प्रकार का उदाहरण वहाँ मिल सकता है जहाँ किसी शब्द अथवा वाक्य के दो या दो से अधिक अर्थ एक में परिणत हो जाते हैं। लेखक के मन में भी वैकल्पिक अर्थों की स्थिति होती है, किंतु सावधानी से शब्दों का वाचन करने पर उन वैकल्पिक अर्थों में से कोई एक अर्थ ही सिद्ध होता है। अनेकार्थता के इस रूप में विचार यदि जटिल नहीं तो संदिग्ध अवश्य होते हैं जबकि भाव बड़े सीधे और सरल।[1] निदर्शनार्थ, 'ऑक्सफ़ॉर्ड बुक' से एक बंद उद्धृत है —

प्रणय-देवता के पंख हैं और वह उड़ता है;
ऐसे ही मेरी प्रेयसी भी अपने देश को बदलती है।
किंतु चाहे वह भूमि को बदले, अथवा आकाश को बदले;
तथापि मैं उससे प्रेम करूँगा अपने मरण तक।

वाक्य अथवा विचार के धरातल पर इस बंद के अनेक अर्थ हो सकते हैं — १. मैं उससे प्रेम करता रहूँगा चाहे वह पृथ्वी के एक छोर से दूसरे ऐसे छोर तक चली जाय जो मेरी पहुँच से बाहर है; २. मैं उससे प्रेम करता रहूँगा चाहे वह दूसरे आकाशों के नीचे रहने के लिए चली जाय; ३. मैं उससे प्रेम करता रहूँगा चाहे वह इस पृथ्वी और आकाश को छोड़कर किसी दूसरे नक्षत्र-लोक को चली जाय; ४. मैं उससे प्रेम करता रहूँगा चाहे वह ऐसे सामाजिक अथवा बौद्धिक क्षेत्र में चली जाय जहाँ मैं उसका अनुगमन नहीं कर सकता; ५. मैं उससे प्रेम करता रहूँगा चाहे वह उस भूमि और आकाश को बदल दे जिनसे मेरा संबंध है; आदि-आदि। ऐसे ही इस बंद में कई शब्द ऐसे हैं जिनके अलग-अलग अनेक अर्थ हो सकते हैं; जैसे, 'बदलना' का अर्थ हो सकता है 'दूसरे स्थान को चले जाना' या 'उस स्थान को छोड़ देना जिससे कवि का संबंध है।' 'भूमि' का भी अर्थ 'प्रेयसी का वैयक्तिक संसार' या 'कवि का संसार' अथवा 'सारी मानवता का संसार' हो सकता है। इस प्रकार यहाँ पर अनेक अर्थों की खींचातानी हो सकती है, किंतु तब भी कविता का भाव अथवा आशय बड़ा ही सरल और एक है।

एंपसन ने अनेकार्थता के इस दूसरे प्रकार पर बड़े ही व्यापक रूप में विचार किया है और अनेक उदाहरण शेक्सपियर की चतुर्दशपदियों से प्रस्तुत किये हैं। इसका मूल कारण यह है कि भाषा का जैसा सूक्ष्म प्रयोग शेक्सपियर की कविताओं में देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं। उनकी रचनाओं में इस

---

१. सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, पृ० ४८

प्रकार की स्थिति देखने को मिलती है, जब किसी एक शब्द अथवा वाक्यांश का संबंध पूर्ववर्ती वाक्य के साथ भी जुड़ जाता है और परवर्ती वाक्य के साथ भी तथापि प्रमुख आशय एक ही रहता है।

दूसरे वर्ग की अनेकार्थताओं को एंपसन ने तीन भागों में रखा है— १. वे अनेकार्थताएँ जो, एक बार समझ लिए जाने के बाद, श्रोता या पाठक के चित्त में एक स्पष्ट इकाई के रूप में बस जाती हैं; २. वे अनेकार्थताएँ जिनके विश्लेषण और समझने की प्रक्रिया में आनंद आता है और जिनकी आवृत्ति प्रत्येक वाचन के अवसर पर होनी चाहिए; और ३. वे अनेकार्थताएँ जो अपने अनुद्घाटित रूप में ही सर्वाधिक प्रभाव डालती हैं। कौन-सी कविता किस वर्ग में जायेगी, यह आपके मानसिक रुझान और आलोचना-दृष्टि पर निर्भर करता है।[1]

**अनेकार्थता का तृतीय रूप**—अनेकार्थता का तीसरा रूप वहाँ मिलता है जहाँ ऐसे दो विचारों को एक ही शब्द के द्वारा एक ही साथ व्यक्त कर दिया जाता है जो संदर्भगत संगति के कारण एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं।[2] सामान्य नियम तो यह है कि दो विचारों को व्यक्त करने के लिए अलग-अलग शब्दों की आवश्यकता होती है, किंतु जब दो विचार किसी एक ही शब्द से बँधे रहते हैं तब कवि चमत्कार की सृष्टि करने के लिए उन विचारों को एक ही शब्द के द्वारा व्यक्त कर दिया करता है। निश्चय ही ऐसे स्थलों पर श्लेष अपना कार्य कर रहा होता है। उदाहरणार्थ, सैम्सन द्वारा दलाइला के लिए प्रयुक्त इस पंक्ति को देखा जा सकता है—

> वह बाह्यरमणीय' (स्पीशस) दानव है, मेरा प्रवीण (अकॉम्प्लिश्ड) जाल है।

पंक्ति में 'बाह्य रमणीय' का अर्थ 'सुंदर' और 'प्रवंचनापूर्ण', दोनों ही हैं। इसी प्रकार 'प्रवीण' का अर्थ 'चिकनी-चुपड़ी बातें बनाने की कला में दक्ष' भी है और 'अपने पति के सर्वनाश में सफल' भी। यहाँ पर मुख्य रूप से ध्यान देना है दो अर्थों के बीच उस सूक्ष्म अंतर पर जिसके प्रति पाठक को निरंतर सजग रहना पड़ता है; ये दो अर्थ अलग-अलग दो सूचनाएँ हैं, अलग-अलग दो विवरण हैं। यदि कुशलतापूर्वक उनके लिए किसी एक शब्द का चयन न किया जाय तो उन्हें व्यक्त करने के लिए दो अलग-अलग शब्द अपेक्षित होंगे।

---

१. सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, पृ० ५७
२. वही, पृ० १०२

एंपसन ने इस अनेकार्थता को स्पष्ट ही 'श्लेष' (पन) की संज्ञा दी है।[1] उनका कहना है कि काव्य में इस अनेकार्थता की योजना दो रूपों में हो सकती है — १. एक वक्तव्य-द्वारा उन विभिन्न स्थितियों का कथन जिनसे इस वक्तव्य का संबंध है। इस प्रकार की अनेकार्थता तब होती हैं जब किसी अन्योक्ति में व्याख्या के अनेक धरातल दिखायी पड़ते हैं। अथवा २. कोई वक्तव्य दो स्थितियों का वर्णन करे और ऐसे विभिन्न निष्कर्षों को निकालने के लिए पाठक पर छोड़ दे जो दोनों स्थितियों के साथ लागू होते हों। ऐसी अनेकार्थता तब होती है जब किसी आलंकारिक तुलना में एक पदार्थ का प्रयोग केवल दूसरे पदार्थ को उजागर करने के लिए ही नहीं होता है, वरन् इस तुलना में दोनों पदार्थों को एक साथ समान महत्त्व भी दिया जाता है और ये दोनों पदार्थ एक-दूसरे को उजागर करते हुए जान पड़ते हैं।[2]

**अनेकार्थता का चतुर्थ रूप** — यह अनेकार्थता तब दिखायी पड़ती है जब किसी वक्तव्य के दो या दो से अधिक अर्थ परस्पर मेल न खाते हों, किंतु वे सब मिलकर लेखक की जटिलतर मनःस्थिति को स्पष्ट कर रहे हों। इस अनेकार्थता के उदाहरण उन कवियों की कविताओं में अधिक संख्या में देखने को मिलेंगे जो अलंकार-योजना के प्रति आग्रही हैं। शेक्सपियर का काव्य तो ऐसे उदाहरणों का आकर ही है। यहाँ इन की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं —

ऐ चंद्र से भी अधिक.
(अश्रु-) सागरों में ज्वार मत लाओ, कहीं मैं उसमें डूब न जाऊँ,
मुझे इतना न रुलाओ कि मर ही जाऊँ, तुम्हारी गोद में, किंतु धैर्य रखो
सागर को सीख देने के लिए, जिससे यह की जाने वाली हानि को और जल्दी न कर बैठे,

हवा को मत पाने दो
उदाहरण,
मेरी और अधिक हानि करने के लिए, जिसे करने का उसका इरादा है,

क्योंकि तुम और मैं एक ही साँस लेते हैं,
अतः जो जितना गहरा निःश्वास लेगा वह उतना ही निर्दयी है,
और जल्दी बुलाता है दूसरे की मृत्यु को।

---

१. सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, पृ० १११
२. वही, पृ० १११-१२

समुद्र-यात्रा पर जाने से पूर्व कवि अपनी प्रेयसी से विदा ले रहा है। विदाई के इन क्षणों में दोनों की आँखों से अश्रुओं का उमड़ना बड़ा स्वाभाविक है। उसे भय है कि कहीं वह प्रेयसी के आँसुओं के सागर में डूब न जाय। उसकी यह मनोदशा उस भय को और अधिक गहराती है जो समुद्र-यात्रा के समय वायु से उद्वेलित सागर में डूबने का है। ऐसी स्थिति में कविता की नौ पंक्तियों में से पहली सात पंक्तियाँ विदाई के क्षणों की करुण गाथा कहती हैं। किंतु अगली ही दो पंक्तियों में स्थिति एकदम बदल जाती है जब कवि कहना चाहता है कि हमारी सहानुभूति इतनी पूर्ण है कि शोक की किसी प्रकार की भी अभिव्यक्ति अभिव्यक्तिकर्त्ता को उतनी सांत्वना नहीं देगी जितना दूसरे को कष्ट; अतः हमें एक-दूसरे को उत्साहित करना चाहिए। इस प्रकार कविता की प्रथम सात पंक्तियों में एक वक्तव्य है और अंतिम दो पंक्तियों में उसका विरोधी वक्तव्य, किंतु दोनों वक्तव्य मिलकर कवि की वेदनाजटिल मनःस्थिति को बड़ी सुंदरता के साथ उभार रहे हैं।

**अनेकार्थता का पंचम रूप** — अनेकार्थता का पाँचवाँ रूप वहाँ होता है जहाँ लेखक लेखन की प्रक्रिया में अपने विचार को व्यक्त करता चलता है; उसके मस्तिष्क में पहले से उसकी रूप-रेखा स्पष्ट नहीं होती। यहाँ ऐसे सादृश्य की योजना होती है जो ठीक से किसी के साथ लागू नहीं होता, वरन् लेखक के द्वारा एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की ओर जाने की प्रक्रिया में यह (सादृश्य) दोनों के बीच लटकता जान पड़ता है।[1] इस अनेकार्थता का उन्नीसवीं शताब्दी में पर्याप्त प्रचार था। शैले की 'स्काइलार्क' कविता में इसका अच्छा उदाहरण देखा जा सकता है जिसके अपेक्षित अंश का अनुवाद डॉ० नगेंद्र ने इस प्रकार किया है —

दिन के व्याप्त प्रकाश में,
आकाश के नक्षत्र की तरह —
तू छिप जाता है। फिर भी मैं सुन पाता हूँ तेरे वे उल्लास-भरे स्वर !
जो तीव्र हैं, उस रजत-मंडल से
बरसते हुए बाणों की तरह,
जिसका ज्योतिर्मय दीप-बिंब
सिमटता जाता है प्रभात के शुभ्र आलोक में,
जब (एक क्षण ऐसा आता है कि) हम उसे देख नहीं पाते —
केवल यहाँ अनुभव करते हैं कि वह वह है !

---

१. सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, पृ० १५५

कवि ने कविता के इन दो बंदों में पक्षी के तीखे स्वरों की उपमा बाणों से दी है। ये बाण निश्चय ही किरणों के सूचक हैं। कविता की आरंभिक स्थिति में यह कहना कठिन है कि कवि इन किरण-रूप बाणों का संबंध किसके साथ स्थापित करना चाहता है — चंद्रमा के साथ अथवा नक्षत्र के साथ, किंतु कविता जैसे-जैसे आगे को बढ़ती है वैसे-वैसे चंद्रमा के साथ इनका संबंध उभरता चला जाता है। इस संबंध को स्पष्ट करने में दो तत्त्व सहायक हो रहे हैं, एक तो 'बरसना' क्रिया, और दूसरे चंद्रमा के साथ संबद्ध पुराकथा में चित्रित डायना के आखेटक-रूप का उभार। इस प्रकार यहाँ बाणों के संबंध की अभिव्यक्ति लेखन की ही प्रक्रिया में हो रही है, इससे पूर्व लेखक के मस्तिष्क में भी इस संबंध का रूप स्पष्ट नहीं है।

**अनेकार्थता का षष्ठ रूप** — अनेकार्थता का छठा रूप वहाँ होता है जहाँ वक्तव्य स्वयं कुछ नहीं बताता। इस वक्तव्य का चमत्कार पर्याय शब्दों की आवृत्ति, पारस्परिक विरोध, अथवा असंबद्ध कथन पर आधारित होता है। चूँकि यहाँ पर वक्तव्य तो कुछ बताता नहीं, अतः पाठक को उक्तियों की कल्पना स्वयं करनी पड़ती है और ये काल्पनिक उक्तियाँ कभी-कभी परस्पर विरोधी भी हो सकती हैं।[1] उदाहरणार्थ शेक्सपियर के नाटक 'ट्रॉइलस एंड क्रेसिडा' में क्रेसिडा की यह उक्ति द्रष्टव्य है —

किंतु आप तो चतुर हैं,
अथवा यों कहें कि आप प्रेम नहीं करते : क्योंकि (एक साथ)
चतुर होना और प्रेम करना,
मानव की शक्ति से बाहर हैं: ये दोनों (साथ-साथ) तो
ऊपर देवताओं के हृदयों में ही निवास करते हैं।

इस उक्ति का सामान्य अर्थ है — 'या तो आप चतुर हैं या फिर आप प्रेम नहीं करते; क्योंकि यदि आप चतुर हैं तो आप प्रेम नहीं कर सकते।' यहाँ पर क्रेसिडा यह कुछ नहीं कहना चाहती कि आप चतुर हैं और इसीलिए प्रेम नहीं करते। उसने तो यहाँ पर विरोधी स्थितियों का कथन-भर कर दिया है। अब यह पाठक पर निर्भर करता है कि वह इस उक्ति का क्या अर्थ निकाले।

**अनेकार्थता का सप्तम रूप** — अनेकार्थता का सातवाँ रूप सर्वाधिक दुरूह है। यह अनेकार्थता वहाँ होती है जहाँ शब्द-विशेष के दो अर्थ, या कहें कि

१. सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, पृ० १७६

अनेकार्थता के दो मूल्य, संदर्भ के द्वारा निर्धारित दो परस्पर-विरोधी भावों की इस प्रकार व्यंजना करते हैं कि समग्र प्रभाव लेखक के मानस में विद्यमान मूलभूत अंतर्विरोध को स्पष्ट करने लग जाता है।[1] डॉ० नगेंद्र ने एंपसन की इस अनेकार्थता के विवेचन को सार-रूप में प्रस्तुत करते हुए लिखा है — "इस प्रकार के प्रयोग सर्वथा अज्ञात रूप में किये जाते हैं और उनके पीछे अवचेतन मन की प्रेरणा रहती है। फ़्रायड के अवचेतन-विज्ञान ने इस प्रकार के प्रयोगों का मर्म उद्घाटित करने में काफ़ी योगदान किया है। हमारे अवचेतन की इच्छा और चेतन मन की प्रवृत्ति में प्रायः विरोध रहता है, इस नियम के अनुसार संदर्भगत अर्थ और कवि के अभीष्ट अर्थ में कभी-कभी अज्ञात रूप से, विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस अंतिम भेद का संबंध ऐसी ही विरोध-मूलक अनेकार्थता से है।"[2] एक उदाहरण से वस्तु-स्थिति पर्याप्त स्पष्ट हो जायेगी —

जो होना हो, हो,
समय और घंटा भाग रहा है, अत्यंत कष्टमय दिवस से होकर।[3]

यद्यपि यहाँ पर 'समय और घंटा', दोनों का ही प्रयोग एकवचन में किया गया है तथापि इन दोनों के विरोध को स्पष्ट देखा जा सकता है — घंटे का अर्थ है कार्य करने का क्षण, और समय का अर्थ है अवकाश का समय। संदर्भ के द्वारा जब इस विरोध का निर्धारण हो जाता है तब यह विरोध मैकवेथ के मानसिक विरोध का सूचक बन जाता है — मैकवेथ सोच रहा है कि डन्कन की हत्या करके समय का उपयोग किया जाय अथवा उसे यों ही व्यतीत होने दिया जाय।

**विवेचन :**

विलियम के० विम्साट जूनियर तथा क्लिअंथ ब्रुक्स का यह कथन बहुत दूर तक सही नहीं है कि एंपसन के अनेकार्थता-सिद्धांत का प्रेरणा-स्रोत, रॉबर्ट ग्रेव्स और लौरा राइडिंग के द्वारा शेक्सपियर की चतुर्दशपदी 'द एक्सपेंस ऑफ़ स्पिरिट इन ए वेस्ट ऑफ़ शेम' का वह विश्लेषण है जिसमें उन्होंने अर्थों के बाहुल्य का उद्घाटन किया है।[4] साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी इस तथ्य से सम्यक् अवगत है कि विलियम एंपसन ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में सुविख्यात

---

१. सेवेन टाइप्स ऑफ़ एंबिगुइटी, पृ० १९२
२. नयी समीक्षा : नये संदर्भ, पृ० २४
३. मैकवेथ, अंक १, दृश्य ३
४. लिटरेरी क्रिटिसिज़्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री, पृ० ६३७

समीक्षक आई० ए० रिचर्ड्स के शिष्य रहे हैं और 'सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी' की रूप-रेखा रिचर्ड्स की ही देख-रेख में उस समय तैयार की गयी थी जब एंपसन ऑक्सफ़ॉर्ड में विद्यार्थी ही थे। उस समय तक रिचर्ड्स के ग्रंथ 'प्रिंसिपिल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' का प्रकाशन हो चुका था। इसके दूसरे संस्करण (१९२६ ई०) के परिशिष्ट में रिचर्ड्स ने दो उपलेख और जोड़ दिये थे — 'ऑन वैल्यू' तथा 'द पोइट्री ऑफ़ टी० एस० इलियट'। इसी दूसरे उपलेख में टी० एस० इलियट की कविता 'द वेस्ट लैंड' की दुरूहता के पक्ष-समर्थन में उन्होंने बड़े ही प्रवल शब्दों में लिखा — "सत्य तो यह है कि सर्वोत्कृष्ट कविता का अधिकांश अपने तात्कालिक प्रभाव में अनिवार्यतः दुरूह (ऐंबिगुअस) होता है।"[1] साहित्य का विद्यार्थी यह भी जानता है कि एंपसन अपनी अधिकांश साहित्यिक मान्यताओं के लिए रिचर्ड्स के ऋणी हैं, स्वयं एंपसन ने अपने विभिन्न ग्रंथों के अनेक पृष्ठों पर रिचर्ड्स के ऋण को मुक्त भाव से स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में लेखक का यह दृढ़ अभिमत है कि एंपसन के इस अनेकार्थता-सिद्धांत के प्रेरक, रॉबर्ट ग्रेव्स और लौरा राइडिंग न होकर, उनके गुरु आई० ए० रिचर्ड्स ही हैं।

निःसंदेह अनेकार्थता काव्य का गुण है, किंतु उसे गुण बनने के लिए अनिवार्य शर्त यह है कि उसकी योजना तभी होनी चाहिए जब अवसर उसकी माँग करे; पांडित्य-प्रदर्शन के लिए अनेकार्थता का विधान काव्य में दुरूहता लाकर उसे अपाठ्य बना देता है। एंपसन इस तथ्य से अवगत हैं, इसीलिए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि काव्य में अनेकार्थता की योजना केवल अनेकार्थता के लिए नहीं होनी चाहिए; उसे तो परिस्थिति की आवश्यकताओं से ही उद्भूत होना चाहिए[2]। विरोधी खेमे में खड़े होने के कारण एल्डर ऑल्सन ने एंपसन के इस कथन की अवहेलना करके उनके द्वारा निरूपित अनेकार्थता की घोर भर्त्सना की है — "यह कथन सच नहीं है कि अनेकार्थता काव्य का सार है, काव्य-भाषा तो सदैव यथासंभव स्पष्ट होनी चाहिए, किसी निरपेक्ष अर्थ में नहीं, वरन् ऐसी अधिकतम स्पष्टता के सापेक्षिक अर्थ में जो किसी विशिष्ट अखंड कविता की आवश्यकताओं के अनुरूप हो। तात्पर्य यह है कि पाठक में अनावश्यक दिग्भ्रम उत्पन्न नहीं करना चाहिए; और इस दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट कविता उलझन में डालने वाली या अस्पष्ट नहीं होती, अपितु इतनी स्पष्ट होती है कि विस्मय हो उठे।"[1] ऑल्सन की यह आलोचना निश्चित

१ प्रिंसिपिल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म, पृ० २९१
२. सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, पृ० २३५

रूप से सिक्के का एक ही पहलू है—अपने लेख 'विलियम एंपसन, कॉन्टेंपोरेरी क्रिटिसिज़्म एंड पोइटिक डिक्शन' में उन्होंने एंपसन के कतिपय वक्तव्यों को संदर्भ मे काट कर उनकी आलोचना की है, यदि उन्होंने वक्तव्यों को उनकी समग्रता में परखा होता तो वे इन भ्रामक निष्कर्षों को नहीं निकालते। उनकी इस अधूरी दृष्टि का कारण उनकी आलोचनात्मक अक्षमता नहीं, वरन् उनकी खेमेबंदी है।

किंतु इतना तो निश्चित है कि 'सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी' एंपसन के साहित्यिक जीवन की आरंभिक कृति है, इसकी रचना तब हुई जब वे मुश्किल से इक्कीस-बाईस वर्ष के विद्यार्थी थे; अतः रचना में अपेक्षित प्रौढ़ता का अभाव है — वर्गीकरण और विश्लेषण की भूलें यत्र-तत्र स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। अनेकार्थता के विभिन्न वर्गों में निश्चित व्यावर्तक रेखाओं का अभाव है। विलियम के० विम्साट जूनियर तथा क्लिअंथ ब्रुक्स ने स्पष्ट कहा है—"अनेकार्थता के रूप परस्परव्यापी हैं और लक्षण अत्यंत मनमाने ढंग से दिये गये हैं।"[२] ऑल्सन ने भी अनेकार्थता के प्रकारों और उसके वर्गीकरण के आधारों पर गहरी चोट की है।[३] इस बात का अनुभव स्वयं एंपसन को भी हुआ है कि अनेकार्थता के विभिन्न रूपों का एक-दूसरे में घाल-मेल हो गया है। उदाहरणार्थ, अनेकार्थता के चौथे रूप का लक्षण देते हुए उन्हें लगा है कि यह लक्षण तो बहुत-कुछ तीसरे रूप को भी अपने में समेट रहा है।[४] ऐसे ही उन्हें अनेकार्थता के चौथे और छठे रूपों में[५], तथा छठे और सातवें रूपों में[६] परस्पर घाल-मेल जान पड़ा है।

इसी प्रकार विश्लेषण की भी अनेक भूलें देखने को मिल जायेंगी। उदाहरण के लिए, प्रस्तुत प्रबंध में ही अनेकार्थता के सप्तम रूप के अंतर्गत विश्लेषित मैकबेथ की उक्ति को लिया जा सकता है। इस उक्ति में समागत 'समय' और 'घंटा' शब्दों में एंपसन ने जो अर्थ भरा है वह दूर की ही कौड़ी पकड़ना है। पाठक के लिए उक्ति का अर्थ बड़ा सीधा-सादा है—'समय बड़ी तेज़ी से भाग रहा है, इसीलिए मुझे अपना कार्य शीघ्रातिशीघ्र करना

---

१. क्रिटिक्स एंड क्रिटिसिज़्म : ऐंशिएंट एंड मॉडर्न, संपादक — आर० एस० क्रेन, पृ० ७७

२. लिटरेरी क्रिटिसिज़्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री, पृ० ६३८

३. क्रिटिक्स एंड क्रिटिसिज़्म : ऐंशिएंट एंड मॉडर्न, संपादक — आर० एस० क्रेन, पृ० ५२

४. सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, पृ० १३३

५. वही, पृ० १६०

६. वही, पृ० १६१

चाहिए।' अपने इसी अर्थ में यह उक्ति पाठक को मैकबेथ की मानसिक उद्विग्नता का परिचय दे रही है; अतः, मात्र अनेकार्थता के आग्रह से, 'समय' और 'घंटा' शब्दों को अर्थ-भार से दबा देना भूल की ही सीमा में आयेगा। ऐसे ही पूरी पुस्तक में अन्य अनेक कविताओं के विश्लेषण में उनके शब्दों को अनावश्यक रूप से तोड़ा-मरोड़ा गया है।

इसी प्रसंग में इस बात को भी नहीं भुलाया जा सकता कि एंपसन का संबंध नयी समीक्षा के उस वर्ग से है जिसका लेखक और पाठक के मनोविज्ञान पर क़तई विश्वास नहीं है और इस दृष्टि से एंपसन ने अनेकार्थता के द्वितीय, चतुर्थ, और सप्तम रूपों में लेखक या पाठक, या फिर दोनों के ही मनोविज्ञान को प्रमुखता देकर, नये समीक्षकों के विचार से, ग़लत कार्य किया है। विलियम के० विम्साट जूनियर तथा क्लिअंथ ब्रुक्स ने इस कार्य के लिए उन्हें स्पष्ट ही दोषी घोषित किया है।[1]

लगे हाथों यदि एंपसन के इस अनेकार्थता-सिद्धांत को भारतीय काव्यशास्त्र के संदर्भ में भी देख लिया जाये तो शायद इसका रूप और भी स्पष्ट हो सकेगा। एंपसन ने पुस्तक का मूल उद्देश्य भाषिक विश्लेषण बताया है।[2] इसका अर्थ यह कि अनेकार्थता का संबंध भाषा से है। यदि ऐसा है तब फिर इसका संबंध कहीं अलंकार, रीति या वक्रोक्ति से होना चाहिए; क्योंकि भारतीय काव्यशास्त्र में ये तीनों भी शब्द और अर्थ पर आधारित हैं। एल्डर ऑल्सन ने एंपसन को अलंकारवादी मानते हुए अनेकाथता को अनेक परंपराभुक्त अलंकारों का अधकचरा समवाय घोषित किया है—"वस्तुतः एंपसन यथार्थ में अप्राप्तलक्ष्य आलंकारिक है, और उसके द्वारा निरूपित अनेकार्थता के सात प्रकार अलंकार ही हैं। इस बात का पता इस तथ्य से चलता है कि परंपरागत अलंकार एंपसन के वर्गीकरण के अंतर्गत आ जाते हैं—उदाहरण के लिए, अनेकार्थता का प्रथम प्रकार रूपक और विरोधाभास को अपने में समाहित कर लेता है, और उसके उपभेद स्पष्टतः अलंकारों के ही उपभेद हैं। किंतु अनेकार्थता के विभिन्न रूपों तथा प्राचीन अलंकारों के बीच कुछ महत्त्वपूर्ण अंतर है—अनेकार्थता के प्रकार उतने व्यापक नहीं हैं जितने अलंकार; अनेकार्थता के प्रकार भाषा के विविध रूपों के बीच उतना स्पष्ट अंतर स्थापित नहीं कर पाते, जितना अलंकार; अनेकार्थता के प्रकार उतने स्पष्ट सिद्धांत पर संगठित नहीं

१. लिटरेरी क्रिटिसिज्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री, पृ० ६३९

२. सेवेन टाइप्स ऑफ़ ऐंबिगुइटी, भूमिका-भाग, पृ० ८

हैं जितने पर अलंकार; और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह कि अनेकार्थता के प्रकार उतने उपयोगी भी नहीं जितने अलंकार।"[1]

एल्डर ऑल्सन के उपर्युक्त मत में दलबंदी के कारण संतुलित दृष्टिकोण की कमी खटक सकती है, किंतु इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि एंपसन एक आलंकारिक हैं, और इसीलिए वे भारतीय काव्यशास्त्र के अलंकारवादी आचार्यों की पंक्ति में आ बैठते हैं। अनेकार्थता के अंतर्गत उन्होंने काव्य में प्रयुक्त होनेवाली ऐसी अनेक युक्तियों पर विचार किया है जो अनेक अर्थों की प्रतीति कराकर काव्य में चमत्कार-सृष्टि करती हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में भी श्लेष ऐसा ही अलंकार है जो एकाधिक अर्थों का सूचक होता है और जिसकी व्याप्ति भाषा के दोनों ही क्षेत्रों—शब्द और अर्थ— में है। भारतीय आलंकारिकों ने इसका विवेचन पर्याप्त विस्तार के साथ किया है — दंडी, उद्भट, रुद्रट, मम्मट, हेमचंद्र, जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित, केशवदास, कुलपति मिश्र, जसवंत सिंह, भूषण, मतिराम, भिखारी दास आदि अनेक आचार्यों ने श्लेष का विवेचन बड़े आग्रह के साथ किया है। इस अलंकार पर सर्वाधिक जमकर विचार करनेवाले आचार्य रुद्रट हैं जिन्होंने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' के सोलह अध्यायों में पूरे दो अध्यायों में केवल श्लेष का ही निरूपण किया है — समग्र चतुर्थ अध्याय में शब्द-श्लेष का विवेचन है और संपूर्ण दशम अध्याय में अर्थश्लेष और उसके विविध रूपों की व्याख्या है। उनके अनुसार शब्दश्लेष का लक्षण है —

"वक्तुं समर्थमर्थं सुश्लिष्टाक्लिष्टविविधपदसंधि।
युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयेत स श्लेषः ॥१॥

[जिस (रचना) में श्लिष्ट (अर्थात् सुनियोजित, उचित प्रकार से जुड़े हुए), अक्लिष्ट (अर्थात् कष्ट-कल्पना रहित) तथा विविध पदों (सुबंतों और तिङंतों) की संधि से युक्त ऐसे अनेक वाक्यों की युगपद् (अर्थात् एक साथ, एक काल में ही, स्पष्टतः कहें तो एक वाक्य में ही) रचना हो जो (अनेक) अर्थ बताने में समर्थ हो, वहाँ श्लेष अलंकार माना जाता है।]"[2] अगली ही कारिका में रुद्रट ने इस शब्द-श्लेष के आठ प्रकार गिनाये हैं — वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन —

वर्णपदलिंगभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम्।
अत्रायं मतिमद्भिर्विधीयमानोऽष्टधा भवति ॥२॥[3]

---

१. क्रिटिक्स एंड क्रिटिसिज़्म : ऐंशिएंट एंड मॉडर्न, संपादक — आर० एस० क्रेन, पृ० ५१
२. रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार हिंदी व्याख्याकार — डॉ० सत्यदेव चौधरी, पृ० ८४
३. वही, पृ० ८५

शब्द-श्लेष के इन सभी प्रकारों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करने के उपरांत रुद्रट ने इस अलंकार की विविधालंकारव्यापकता पर विचार करते हुए कहा है कि यह अलंकार प्रायः अन्य अलंकारों के भी चमत्कार का विधायक होता है —

"भाषाश्लेषविहीनः स्पृशति प्रायोऽन्यमप्यलंकारम् ।
धत्ते वैचित्र्यमयं सुतरामुपमासमुच्चययोः ।।३१।।

[भाषाश्लेष को छोड़कर (अपने शेष सभी प्रकारों से युक्त) यह श्लेष अलंकार प्रायः अन्य (कई, न कि सभी) अलंकारों के साथ भी स्पष्ट (समन्वित अथवा संबद्ध, शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो संकरित) रहता है। उपमा और समुच्चय नामक अलंकारों के साथ इसका संकर तो (बहुत ही) रमणीय होता है।]"[1]

इस प्रकार 'काव्यालंकार' के चतुर्थ अध्याय में शब्दश्लेष पर जमकर विचार कर लेने के पश्चात् रुद्रट दशम अध्याय में अर्थश्लेष के विश्लेषण के लिए परिकरबद्ध हुए हैं। अध्याय के आरंभ में ही उन्होंने अर्थश्लेष को इस प्रकार परिभाषित किया है —

"यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन् ।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ।।१।।

[जहाँ अनेकार्थक पदों से रचित एक वाक्य अनेक अर्थों का निश्चय (द्योतन) करता है वहाँ अर्थश्लेष अलंकार जानना चाहिए।]"[2] इस अर्थश्लेष के उन्होंने दस भेद स्वीकार किये हैं — अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज उक्ति, असंभव, अवयव, तत्त्व और विरोधाभास —

अविशेषविरोधाधिकवक्रव्याजोक्त्यसंभवावयवाः ।
तत्त्वविरोधाभासाविति भेदास्तस्य शुद्धस्य ।।२।।[3]

आगे लगभग पूरे अध्याय में इन्हीं भेदों के लक्षण और उदाहरण भरे पड़े हैं।

इस प्रकार शब्दश्लेष और अर्थश्लेष के विभिन्न भेदों के विशद विवेचन से श्लेष अलंकार के प्रति रुद्रट का प्रबल आग्रह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। मात्र इतना ही नहीं, उन्होंने तो शब्दश्लेष की परिधि में अनेक स्वतंत्र

१. रुद्रट-प्रणीत काव्यालंकार, हिंदी व्याख्याकार — डॉ० सत्यदेव चौधरी, पृ० १०९
२. वही, पृ० ३१०
३. वही, पृ० ३१५

अलंकारों को भी समेट लिया है। उनका यह श्लेष-मोह एंपसन के अनेकार्थता-मोह से कथमपि कम नहीं है। साथ ही एंपसन की अनेकार्थता के विभिन्न रूप भी रुद्रट के शब्द और अर्थ श्लेषों के विभिन्न रूपों से कहीं-न-कहीं जाकर अवश्य जुड़ जाते हैं, बल्कि रुद्रट ने श्लेष का सीमा-विस्तार करके अधिसंख्य अलंकारों को उसमें समाहित कर लिया है जबकि एंपसन की अनेकार्थता में इस सीमा-विस्तार का अभाव है — परंपराभुक्त सभी अलंकारों के समाहरण की क्षमता उसमें नहीं है।

**निष्कर्ष :**

नव्यालोचन के काव्य-सिद्धांतों के प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि नये समीक्षक ने जिन काव्य-प्रतिमानों का अनुसंधान किया है वे काव्य में प्रयुक्त भाषा की अनेक सूक्ष्म-जटिल स्थितियों के आख्यान के प्रयास के परिणाम हैं। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है कि भाषा काव्य का अनिवार्य और आद्य माध्यम है। इसके अभाव में विविध काव्योपकरणों — बिंब, प्रतीक, अलंकार, छंद आदि — की सत्ता संभव ही नहीं है। ये उपकरण भाषा का ही अवलंब लेकर कवि-कथ्य को रमणीयता प्रदान करते हैं। ऐसी स्थिति में काव्य-निर्वचन के संदर्भ में भाषा-विचार और परिणामतः इन उपकरणों का विवेचन नितांत अवश्यंभावी है। कहने का अभिप्राय यह है कि रचनाकार की अनुभूति की संप्रेषिका अपने समस्त उपकरणों के सहित भाषा ही है और इसीलिए रचना के माध्यम के रूप में भाषा का महत्त्व अक्षुण्ण और प्रश्नातीत है। परिणाम-स्वरूप भाषा-विवेचन काव्यालोचन का अनवछिन्न अंग है। नये आलोचकों के द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमान इसी भाषा-विवेचन की महत्ता घोषित कर रहे हैं।

प्रश्न है जब भाषा का विश्लेषण आलोचना के आदि काल से ही उसका अभिन्न अंग रहा है तब इन आलोचकों को काव्य के नूतन प्रतिमानों की स्थापना की क्या आवश्यकता पड़ गयी ? इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए हमें पाश्चात्त्य आलोचना के इतिहास पर दृष्टिपात करना होगा। ऐसा करते ही हमें पता चलता है कि अरस्तू से लेकर आज तक जितने भी आचार्य हुए हैं उन्होंने यह तो निरंतर कहा है कि काव्य के विविध रूपों में किस-किस प्रकार की भाषा का प्रयोग होना चाहिए, किंतु काव्य में जो भाषा प्रयुक्त हो चुकी है उसको काव्यशास्त्रीय भूमि पर जाँचने और परखने के निकषों का निर्माण उन्होंने नहीं किया। नये समीक्षकों ने काव्य में प्रयुक्त भाषा के निकषों को पहली बार हमारे समक्ष रखा है और इसीलिए वे बरबस हमारा ध्यान

अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य-भाषा की समीक्षा के प्रतिमानों का कभी अभाव नहीं रहा—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और किसी सीमा तक व्यंजना नामधेय शब्द-शक्ति पर आधारित ध्वनि मूलतः भाषा-प्रतिमानों के शोध का ही प्रतिफलन है। यही कारण है कि इस अध्याय में नयी समीक्षा के काव्य-सिद्धांतों को भारतीय काव्यशास्त्र के उक्त सिद्धांतों के आलोक में देखने का प्रयत्न किया गया है।

किंतु भाषा में प्राणों का स्पंदन तो कवि का कथ्य ही भरता है; इसके अभाव में भाषा जड़ है। भाषा का भावमय प्रयोग ही सहृदय के अंतश्चमत्कार किंवा आह्लादकत्व का विधायक है। नये समीक्षकों ने इस 'कथ्य' अथवा 'भाव' की सर्वथा उपेक्षा कर अपने काव्य-मानों को नितांत एकांगी बना लिया है। फिर भी भाषा-चिंतन के नूतन आयामों का उद्घाटन कर उन्होंने पाश्चात्य आलोचना में सराहनीय योगदान किया है।

३

# प्रवृत्ति-विलेशषण

यद्यपि प्रथम अध्याय के अंत में ही यह स्पष्ट किया जा चुका है कि नव्यालोचकों के चिंतन में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक लक्षित होता है तथापि आन्दोलन-विशेष से संवद्ध होने के कारण ऐसे अनेक सामान्य विंदु देखने को मिल जायेंगे जहाँ पर आकर उनके चिंतन की रेखाएँ मिल जाती हैं। अव देखना यह है कि वे कौन-से विंदु हैं जहाँ पर पहुँचकर ये, भले ही कुछ वैमत्य के साथ, एकमत हो जाते हैं।

१. केंद्र का आलोकन : अव तक संभवत: यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि नयी समीक्षा ऐतिहासिक आलोचना के विरोध में उभरकर आयी। ऐतिहासिक आलोचना में कृति को कृतिकार की मन:स्थिति, उसके जीवन-दर्शन, उसकी युगीन परिस्थितियों के आलोक में पर्यवेक्षित किया जाता है। दूसरे शब्दों में, ऐतिहासिक आलोचना में आलोचक की दृष्टि कृति की अपेक्षा कृतिकार पर अधिक टिकी रहती है। यदि नये आलोचक की शब्दावली का अवलंव लेकर कहना चाहें तो कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक आलोचक के यहाँ कृतिकार का महत्त्व है, कृति का नहीं। इसके ठीक विपरीत नये समीक्षक के यहाँ कृति ही प्रमुख है, कृतिकार नगण्य है। वह मानता है कि कृतिकार का महत्त्व कृति के कारण है, कृति का महत्त्व कृतिकार के कारण नहीं। स्पष्ट शब्दों में, प्रसाद का महत्त्व 'कामायनी' के कारण है, 'कामायनी' का महत्त्व प्रसाद के कारण नहीं। इसलिए नया समीक्षक कृतिकार को नकार कर मात्र कृति की उधेड़-वुन में प्रवृत्त होता है और इसी को उसने समीक्षा का चरम साध्य स्वीकार किया है।[1] इस विषय में व्रुक्स का दृष्टिकोण थोड़ा उदार है—वे आलोचन का केन्द्र-विंदु तो कृति को ही मानते हैं, किंतु साथ ही उनका

---

१. (अ) देखिए, रिवैलुएशन, भूमिका-भाग, लेखक — एफ़० आर० लीविस, पृ० १०
   (आ) द कॉमन परसूट, लेखक — एफ़० आर० लीविस, पृ० २२४
   (इ) द फिलॉसफी ऑफ़ लिटरेरी फ़ॉर्म, द्वितीय संस्करण का प्राक्कथन, लेखक — केनेथ वर्क, पृ० १०
   (ई) मॉडर्न पोइट्री एंड द ट्रेडिशन, भूमिका-भाग, लेखक — क्लिअंथ व्रुक्स, पृ० ११-१२

कहना यह भी है कि कृति को समझने में कुछ सीमा तक कवि के विचारों, उनके रचना-सिद्धांतों, उसके परिवेश, उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आदि के अध्ययन से भी सहायता मिलती है। हाँ, इतना अवश्य है कि उनके विचार से इन सबका गंभीर अध्ययन हमें कृति से काट देगा। इसीलिए हमें चाहिए कि हम इनके गंभीर अध्ययन की ओर प्रवृत्त न होकर केवल उतने भर को देखें जितना कृति को आलोकित करने में सहायक हो। अपनी इस धारणा को उन्होंने शब्दांतर से अपनी विभिन्न पुस्तकों एवं लेखों में व्यक्त किया है।[1] लगभग यही दृष्टिकोण एलेन टेट का भी है।[2]

कृति का विश्लेषण अथवा केन्द्र का आलोकन नयी समीक्षा की ऐसी प्रबल प्रवृत्ति है जो इस समीक्षा पर विचार करनेवाले किसी भी विद्वान् की दृष्टि से बची नहीं है। डेविड डैचिज़ ने तो नयी समीक्षा को गंभीर पाठालोचन का पर्याय ही घोषित कर दिया है।[3] रे बी० वेस्ट, जूनियर का भी कथन है कि आधुनिक समीक्षा का वैशिष्ट्य साहित्य की किसी विशिष्ट कृति अथवा कृतियों पर फ़ोकस डालना है। पाठालोचन के व्याख्याताओं का विश्वास है कि पाठक किसी विशिष्ट कृति के प्रति अपने दृष्किोण का निर्माण उस कृति की समझ के माध्यम से ही कर सकता है।[4] स्टेनले एडगर हाइमन भी कृति के गंभीर अध्ययन को आधुनिक आलोचना की विशेषता स्वीकार करते हैं।[5]

हिंदी में भी जब से नयी समीक्षा की चर्चा छिड़ी है तब से कतिपय विद्वानों ने इस विषय पर अपनी लेखनी उठायी है। उन्होंने भी इस समीक्षा की प्रस्तुत प्रवृत्ति को सम्यक् लक्षित किया है। डॉ० नगेंद्र के अनुसार, "नयी समीक्षा यह मानकर चलती है कि 'कविता एक स्वतंत्र कृति या कला-वस्तु है, अपने से परे किसी विचार या अनुभव की व्यंजना नहीं है'।"[6] डॉ० निर्मला जैन के शब्दों में, "रचना के उपरांत कविता को ये (नये समीक्षक) एक स्वायत्त निरपेक्ष इकाई या रूप मानते थे। कविता की वस्तुनिष्ठ निरपेक्ष

---

१. (अ) अंडरस्टैंडिंग पोइट्री, पृ० ५१५
(आ) द वेल रॉट अर्न, भूमिका-भाग, पृ० ९-१०
(इ) द शेपिंग ज्वॉइ, भूमिका-भाग, पृ० १५
(ई) पर्सपेक्टिव्स इन कॉन्टेंपोरेरी क्रिटिसिज़्म, संपादक — शेल्डन नॉर्मन ग्रेब्स्टाइन, पृ० १०६-१०७
२ द मैन ऑफ़ लेटर्स इन द मॉडर्न वर्ल्ड, पृ० ३३३
३. ए टाइम्स ऑफ़ हार्वेस्ट, सपादक — रॉबर्ट ई० स्पिलर, पृ० १०५
४. एसेज़ इन मॉडर्न लिटरेरी क्रिटिसिज़्म, पृ० ३२३
५ द आर्म्ड विज़न, भूमिका-भाग, पृ० ६
६. नयी समीक्षा : नये संदर्भ, पृ० १५

समझ के लिए इन्होंने इस बात पर बल दिया कि पाठक और आलोचक को, केवल कविता के भीतर प्रयुक्त अक्षरों, शब्दों, बलाघातों, पंक्तियों, बिंबों, प्रतीकों आदि के बीच उपलब्ध विविध संबंधों का विश्लेषण और व्याख्या करनी चाहिए। इस प्रकार की आलोचना की पहली शर्त यही थी कि कविता को कविता के रूप में ग्रहण किया जाये न कि किसी दर्शन या विचारधारा के माध्यम के रूप में।"[१]

नयी समीक्षा में कृतिकार को अलग रखकर केंद्र अथवा कृति को आलोकित करने की प्रक्रिया नये समीक्षकों के द्वारा उठाया गया एक ऐसा क़दम है जिसके लिए उनकी प्रशंसा की ही जानी चाहिए। लेखक के कथन का यह अभिप्राय क़तई नहीं है कि कृतिकार के विषय में प्राप्त सूचना उसकी कृतियों को समझने में सहायक नहीं होती। प्रसाद के 'आँसू' काव्य को समझने के लिए उनके मानसिक परिवेश का अध्ययन बहुत दूर तक सहायता कर सकता है, किंतु उनकी 'कामायनी' के काव्यगुण को आत्मसात् करने में उनका प्रत्येक जीवन-व्यापार — उदाहरण के लिए, उनका सुँघनी का व्यवसाय — कहाँ तक उपस्कारक है, इसे आज तक कोई भी ऐतिहासिक समीक्षक स्पष्ट नहीं कर सका है। कोई दूर की कौड़ी को पकड़ लाये तो एक अलग बात है, किंतु 'कामायनी' और सुँघनी के व्यवसाय में, जो प्रसाद के जीवन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग था, कम-से-कम लेखक को कोई सीधा संबंध लक्षित नहीं होता। नयी समीक्षा के विरोधी होते हुए भी डॉ० नगेंद्र ने इस विषय में नये समीक्षक की स्वच्छंदतावादी, समाजवादी और मनोवैज्ञानिक आलोचकों पर वरीयता मुक्त कंठ से प्रतिपादित की है। उनका कथन है — "स्वच्छंदतावाद ने जब कविता को अत्यंत तरल और वायवी बना दिया, समाजवाद ने उसे भौतिक परिवेश के साथ बाँधकर स्थूल और अनगढ़ रूप दे दिया, और मनोविज्ञान ने जब मन के सपनों और कुंठाओं के साथ गठबंधन कर उसके स्वरूप को उलझाकर रख दिया, तो बुद्धिजीवियों के एक यथार्थनिष्ठ वर्ग में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। स्वच्छंदतावादी आलोचक भाव और कल्पना से रंजित काव्य के प्रभामंडल मात्र पर मुग्ध थे, समाजवादी आलोचक सिद्धांतों का व्यवसाय कर रहे थे और मनोवैज्ञानिक कवि के मन की कुंठाओं तथा उससे उदभूत प्रतीकों के विश्लेषण में उलझे हुए थे। इस प्रकार तीनों ही कविता-वस्तु अथवा कृति की उपेक्षा कर रहे थे। नये समीक्षक ने इस वाग्जाल से कविता का उद्धार कर उसके स्वगत सौंदर्य की पुनः प्रतिष्ठा की।"[२]

१. नयी समीक्षा के प्रतिमान, भूमिका-भाग, पृ० १२
२. नयी समीक्षा : नये संदर्भ, पृ० ५६

नयी समीक्षा में कृति के विश्लेषण के लिये किया गया प्रयास निश्चय ही स्तुत्य है, किंतु अतिवाद किसी क्षेत्र में काम्य नहीं है। जब नया समीक्षक कृति के समग्र परिवेश को विस्मृत कर मात्र उसकी ही उधेड़-बुन में जुट गया तब वह कविता के अस्थि-पंजर में ही उलझकर रह गया — उसमें कवि के द्वारा संचारित प्राणों के उस स्पंदन का अनुभव न कर सका जो कविता को कविता की संज्ञा का अधिकारी बनाता है। उसने कवि की मनोभूमि पर उतरने की कभी चेष्टा ही नहीं की और कवि की मनोभूमि पर उतरे बिना कविता को उसकी पूर्णता में समझा ही नहीं जा सकता। रचनाकार के मानसिक धरातल पर अवतीर्ण हुए बिना पाठक 'राम की शक्तिपूजा' और 'सरोज-स्मृति'-जैसी कविताओं का पल्लवग्राही ज्ञान भले ही प्राप्त कर ले, किंतु उसका आमूल संवेदन संभव नहीं है। इस प्रकार सर्जनात्मक प्रक्रिया की सर्वथा उपेक्षा कर मात्र कृति-विश्लेषण से ही संपृक्त रहकर, नयी समीक्षा उस सूत्र को पकड़ने में पूर्णत: असमर्थ रही है जिसे कवि की अनुभूति कहा जाता है और जो कविता का प्राण-तत्त्व है। वान वाइक ब्रुक्स के मतानुसार नयी समीक्षा में परिवेश को नकारकर केवल कृति के सूक्ष्म पाठ पर बहुत अधिक बल देने की प्रवृत्ति कुछ वैसी ही है जैसे कोई व्यक्ति पेड़ को तो देखे, किंतु जंगल को नहीं; अथवा फिर पत्तियों को देखे, किंतु पेड़ को नहीं।[1] नयी समीक्षा के प्रबल प्रेरणा-स्रोत और बहुत बड़े पक्षधर टी० एस० इलियट ने जब यह देखा कि समसामयिक आलोचना में सूक्ष्म पाठ-विश्लेषण की प्रवृत्ति हद से अधिक बल पकड़ती जा रही है तो उन्हें भी क्षुब्ध होकर लिखना पड़ा — "मैंने हाल में ही एक विकास को लक्ष्य किया है। संभवत: इसका स्रोत प्रो० रिचर्ड्स की कक्षा-पद्धतियों में निहित है। यह विकास अपने ढंग से कविता से कवि की तरफ भटकते जाने वाली प्रवृत्ति के विरुद्ध एक स्वस्थ प्रतिक्रिया है। इसे हाल ही में 'इंटरप्रटेशन' शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित पुस्तक में देखा जा सकता है। यह अँग्रेज़ी के बारह युवा आलोचकों की लेखमाला है जिसमें प्रत्येक ने अपनी पसंद की एक कविता का विश्लेषण किया है। पद्धति एक प्रसिद्ध कविता को लेने की रही है — इस पुस्तक में विश्लेषित प्रत्येक कविता अपने ढंग की अच्छी कविता है — इस कविता के लेखक अथवा उसकी किसी अन्य रचना की ओर संकेत किये बिना अनुच्छेद-प्रति-अनुच्छेद, और पंक्ति-प्रति-पंक्ति उसका विश्लेषण किया गया है, और उसमें से खींचकर, निचोड़कर, धुनकर और दबाकर अर्थ की अंतिम संभव बूँद को निकाल लिया गया है। इसे आलोचना का नींबू-निचोड़ संप्रदाय

---

१. द राइटर इन अमेरिका, पृ० २०

कहा जा सकता है।"[1] इलियट के अंतिम वाक्य में उनकी झुँझलाहट पर्याप्त मुखर हो गयी है। कहने का अर्थ यह है कि कृतिकार को ताक पर रखकर केवल कृति के ही साथ जूझने की नयी समीक्षा की अतिवादी प्रवृत्ति ने विरोधियों को अपने ऊपर प्रहार करने का खुला अवसर प्रदान कर दिया। यदि इस समीक्षा-पद्धति ने कृति के विश्लेषण में, आवश्यकता पड़ने पर, कृतिकार को भी उचित महत्त्व दिया होता तो यह निःसंदेह काव्य-पाठक का अधिक उपकार कर सकती थी। आलोचना में ऐसा युग कभी नहीं आया जब आलोचक ने रचना को उठाकर ताक पर रख दिया हो और वह रचनाकार के जीवन-नद में ही गोते लगाता रहा हो, फिर चाहें वे 'लाइव्ज ऑफ़ द पोइट्स' के लेखक डॉ० जॉनसन हों अथवा जायसी, सूर और तुलसी के गंभीर अध्येता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; चाहें 'एसेज़ इन क्रिटिसिज़्म' में मिल्टन, ग्रे, कीट्स, वर्ड्सवर्थ, बायरन, शैले आदि कवियों पर निबंध प्रस्तुत करनेवाले मैथ्यू आर्नल्ड हों अथवा 'आस्था के चरण' में केशव, बिहारी, मैथिलीशरण, सियारामशरण, पंत, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, गिरिजाकुमार माथुर आदि रचनाकारों पर लेख लिखनेवाले डॉ० नगेंद्र, कृतिकारों की कलाकृतियों का पल्ला इन आलोचकों ने कभी नहीं छोड़ा है। हाँ, इतना अवश्य है कि कृति के निर्भ्रांत ज्ञान के लिए इन्होंने युग और कवि के जीवन की कुछ जानकारी सामने रखी है, और फिर इस बात पर तो बल नये समीक्षक का भी है कि कवि को अपने परिवेश एवं तज्जन्य अनुभूति के प्रति ईमानदार होना चाहिए। यदि वास्तव में कवि अपने परिवेश के प्रति जागरूक है तो उसके युग की अभीप्सित जानकारी रचना को अनाविल रूप में प्रस्तुत करने में बाधक न होकर साधक ही होगी।

२. **कविता को अखंडता में देखने की प्रवृत्ति** : कविता की आलोचना की सामान्य परिपाटी उसे संवेद्य-तत्त्व और रूप-तत्त्व में विलगाकर देखने की रही है। हिंदी-आलोचना में इनके बहुप्रचलित नाम क्रमशः भाव-पक्ष और कला-पक्ष हैं। नये समीक्षक ने जब यह देखा कि आलोचना के क्षेत्र में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक बल पकड़ती जा रही है और इस बलवती प्रवृत्ति के कारण कविता चीथड़ों के रूप में दिखायी पड़ने लगी है तब उसने कविता को अखंड रूप में देखने की आवश्यकता पर जोर दिया। उसका कथन है कि कविता में रूपायित कवि की अनुभूति का तदाकार-रूप में ग्रहण कविता की पूर्ण अन्विति ही करा सकती है—कविता का अंग-भंग करते ही अनुभूति भी खंडित हो जाती है।

---

१. ऑन पोइट्री एंड पोइट्स, पृ० ११२-१३

विलअंथ ब्रुक्स का सुझाव है कि कविता के सौंदर्य का मूल्यांकन उसकी समग्रता में ही होना चाहिए ।[1]

आलोचना-जगत् में संवेद्य-तत्त्व और रूप-तत्त्व की अविभाज्यताविषयक धारणा उतनी ही प्राचीन है जितने अरस्तू । नयी समीक्षा में यह धारणा जर्मन रोमानी आलोचना, कोलरिज तथा फ़्रांसीसी प्रतीकवादियों से होकर आयी है । इसी धारणा ने क्रोचे तथा रूसी और जर्मन रूपवादियों को प्रभावित किया है ।

नव्यालोचन के सद्यःस्रोत वैलरी, टी० एस० इलियट तथा आई० ए० रिचर्ड्स ने भी कविता को अखंड और अच्छेद्य ही स्वीकार किया है ।

लगभग सभी नये समीक्षक कविता को एक अखंड इकाई मानकर उसकी अलोचना करने की बात करते हैं । इस विषय में टेट के मंतव्य को स्पष्ट करते हुए ब्रुक्स ने लिखा है — "जब एलेन टेट-जैसा समीक्षक इस बात पर बल देता है कि रूप-तत्त्व ही अर्थ-तत्त्व है तब वे जान-बूझकर रूप-तत्त्व को किसी महत्त्व-पूर्ण नैतिक अथवा मनोवैज्ञानिक संवेद्य-तत्त्व को अपने में समाविष्ट करनेवाले लिफ़ाफ़े के रूप में उसकी (रूप-तत्त्व की) धारणा का निरसन करते हैं । वस्तुतः वे उस समग्र समीक्षा-शास्त्र का प्रत्याख्यान करते हैं जिसमें रूप-तत्त्व और संवेद्य-तत्त्व का द्वित्व निहित है ।"[2] कविता के रूप-तत्त्व के विषय में ठीक इसी प्रकार के विचार ब्रुक्स और वारेन के हैं । उनका भी मंतव्य है कि रूप-तत्त्व कविता की सामग्री को बंद करके रखनेवाला बॉक्स नहीं है । वह इससे भी अधिक कुछ है — रूप-तत्त्व काव्य-सामग्री को समाहित करने के अतिरिक्त और भी बहुत-कुछ करता है : वह काव्य-सामग्री को सुसंगठित करता है; वह इसे रूपायित करता है; वह इसके अर्थ को परिभाषित करता है ।[3] । उनके विचार से किसी कविता का रूप-तत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मसला है और इसका सीधा संबंध कविता की एकाग्रता और सघनता से है ।[4] इसका अभिप्राय यह कि कविता में रूप और संवेद्य, दोनों घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं । आगे चलकर ब्रुक्स ने 'रूप' शब्द को अपने अभिप्रेत के कथन में अक्षम पाकर उसके स्थान पर 'संरचना' (स्ट्रक्चर) शब्द का प्रयोग किया है । ऐसा उन्होंने 'रूप' शब्द के रूढ़ अतएव संकुचित अर्थ के कारण किया । उनके स्पष्ट शब्द हैं, "संरचना से आशय निश्चय ही परंपरागत अर्थ में प्रयुक्त उस 'रूप'

---

१. द वेल रॉट अर्न, पृ० १५८
२. पर्सपेक्टिव्स इन कॉटेंपोरेरी क्रिटिसिज्म, संपादक — शेल्डन नॉर्मन ग्रेब्स्टाइन, पृ० ९८
३. अंडरस्टैंडिंग पोइट्री, पृ० २४
४. वही, पृ० ७६

तत्त्व से नहीं है जिसे संवेद्य को अपने में समाविष्ट कर लेने वाला एक प्रकार का लिफ़ाफ़ा समझा जाता है।"[1] ब्रुक्स के यहाँ संरचना का अर्थ अत्यंत व्यापक है। उनके अनुसार, "संरचना से तात्पर्य अर्थों, मूल्यांकनों एवं व्याख्याओं की संरचना से है।"[2] इसीलिए वे यह मानते हैं कि कविताओं के सामान्य गुण का कथन 'संवेद्य' अथवा 'सामग्री' जैसे शब्दों के द्वारा नहीं, वरन् संरचना के द्वारा किया जाना चाहिए।[3] स्पष्ट है कि ब्रुक्स ने संवेद्य और रूप के समवेत को ही संरचना नाम दिया है। ईवोर विंटर्स की मान्यता है कि कविता में भावानुभूति और तकनीक अथवा संरचना अविभाज्य हैं।[4] उनकी यह भावानुभूति संवेद्य-तत्त्व का, और तकनीक अथवा संरचना रूप-तत्त्व के पर्याय के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं।

कतिपय नये समीक्षक ऐसे हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप से संवेद्य और रूप की अखंडता की बात भले ही न की हो, किंतु उनके काव्यविषयक सिद्धांतों में यह अखंडता प्रकृत्या अंतर्भूत है। उदाहरणार्थ, रैंसम के शब्द-विधान में विचार अथवा अर्थ-विधान की अवधारणा स्वतः अंतर्भुक्त है; क्योंकि, रैंसम के अपने ही शब्दों में, कविता जन्मती तो विचार के ही रूप में है; यह बात अलग है कि सर्जना की प्रक्रिया में यही विचार बिंब अथवा शब्द-विधान का रूप ग्रहण कर स्वयं नगण्य बन जाता है। ऐसी स्थिति में रैंसम के शब्द-विधान (रूप-तत्त्व) में अर्थ-विधान (संवेद्य-तत्त्व) निसर्गतः अंतर्निविष्ट है और यह अंतर्निवेश दोनों तत्त्वों की एकरूपता का ही उद्घोष कर रहा है। ऐसे ही जब एलेन टेट कविता में बहिस्तनाव और अंतस्तनाव के संतुलन का पक्ष-समर्थन करते हैं तब वे अनिवार्यतः संवेद्य और रूप की अन्विति पर ही बल देते हैं।

नयी समीक्षा के घेरे से बाहर के समीक्षकों ने इस प्रवृत्ति को नयी समीक्षा की बड़ी ही प्रबल प्रवृत्ति माना है। शेल्डन नॉर्मन ग्रेब्स्टाइन ने बड़े ही साफ़ शब्दों में कहा है कि रूपवादी समीक्षक की दृष्टि में रूप और संवेद्य, संरचना और अर्थ अविभाज्य हैं। संवेद्य अथवा अर्थ रूप-तत्त्व से अभिन्न होकर ही रह सकता है। रूप के अभाव में संवेद्य जीवन का यथार्थ है और जीवन कला नहीं है।[5] नये समीक्षकों ने 'रूप' शब्द का प्रयोग जिस व्यापक अर्थ में किया है और जिसमें निश्चित रूप से कथ्य विनिविष्ट है, उसे लक्षित करते हुए

---

१. द वेल रॉट अर्न, पृ० १५९
२. वही, पृ० १५९
३. वही, पृ० १५८
४. इन डिफ़ेंस ऑफ़ रीज़न, पृ० २९
५. पर्सपेक्टिव्स इन कॉन्टेंपोरेरी क्रिटिसिज़्म, पृ० ७९-८०

एल्फ्रेड कज़िन ने लिखा है कि नये समीक्षकों के यहाँ 'रूप' का अर्थ मात्र ढाँचा नहीं, वरन् उससे व्यापकतर है।[1] रिचर्ड फ़ॉस्टर ने नये समीक्षकों को सुसंगठित और जटिल कविता का पक्षपाती बताया है।[2] सुसंगठित और जटिल कविता से अभिप्राय अनिवार्य रूप से ऐसी कविता से है जिसे संवेद्य-तत्त्व और रूप-तत्त्व के रूप में बिलगा कर नहीं देखा जा सकता।

भारतीय चिंताधारा में संवेद्य और रूप की अखंडता कोई नयी बात नहीं है—'वागर्थ की संपृक्ति'[3] एवं 'गिरा-अरथ की अभिन्नता'[4] के द्वारा भारत के मनीषी कवि कला-पक्ष और भाव-पक्ष की एकरूपता का ही तो उद्घोष करते रहे हैं; ये अर्थ और वाग् (गिरा) क्रमशः कथ्य और उसकी अभिव्यक्ति के ही तो पर्याय हैं। कौन नहीं जानता कि कृति के ये भेद मिथ्या हैं। कवि की वाणी में भाव, भाषा, अलंकार आदि सभी मिलकर एकाकार हो जाते हैं—एक को दूसरे से पृथक् करते ही वाणी का सारा सौंदर्य समाप्त हो जाता है। यही कारण तो है कि पूर्व और पश्चिम के आचार्यों ने विभिन्न विषयों की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न साहित्य-विधाओं का निर्देश किया है। ऐसा केवल इसीलिए किया गया है जिससे विषय अनुरूप साहित्य-विधा को पाकर जीवंत हो उठे। उसकी यह जीवंतता उसकी समग्रता में ही है; एक भी तत्त्व के विच्छिन्न होते ही विषय निष्प्राण हो जायेगा। कालिदास के 'मेघदूत' से उसका मंदाक्रांता छंद छीन लीजिए, वह मंदाक्रांता छंद जिसकी लय एक उन्मत्त व्यक्ति के प्रलाप की भाँति कभी ऊँची, कभी नीची तथा कभी मध्यम हो जाती है तब कामार्त होने के कारण (उन्मत्त व्यक्ति की ही तरह) चेतन और अचेतन में भेद करने में अक्षम विरही यक्ष का मेघ से संलाप और उसको दिया गया संदेश अपने सारे चारुत्व को खो बैठेंगे। यह तो एक उदाहरण है। इसी प्रकार भाषा, प्रतीक, अलंकार, बिंब आदि के अलग-अलग उदाहरणों को लेकर यह सिद्ध किया जा सकता है कि वे किस प्रकार कृति के अच्छेद्य अवयव हैं और उसमें अभिव्यक्त भाव को वे किस प्रकार सघन से सघनतर बनाकर उसे सहृदय-संप्रेष्य बना दिया करते हैं।

---

१. ऑन नेटिव ग्रॉउंड्स, पृ० ४३१

२. द न्यू रोमांटिक्स, पृ० १५

३. वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥
—रघुवंश, १/१

४. गिरा अरथ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥
—रामचरितमानस, १/१८

कहने का आशय यह है कि साहित्यिक कृति एक इकाई है जिसे खंडित करना उचित नहीं है। यह कृति अपनी समग्रता में ही सहृदय के हृदय का रंजन करती है। किंतु यह बात सिद्धांत की है, व्यवहार के धरातल पर वह सर्वथा असंभव है। जब हमें किसी रचना का विवेचन करना होगा तब तो हमें खंडशः देखने की प्रवृत्ति को अपनाना ही पड़ेगा और उसको संवेद्य-तत्त्व एवं रूप-तत्त्व में विभक्त करना ही होगा, अन्यथा वह गूँगे का गुड़ बनकर रह जायेगी जिसका आख्यान संभव नहीं है। यह स्थिति लगभग वैसी ही है जैसे मानव के शरीर-साकल्य की कल्पना — यों तो मानव-शरीर एक है और अपने इसी रूप में वह सुंदर है, किंतु जब उसके विषय में चर्चा चलायी जाती है तब निश्चित रूप से उसके विभिन्न अवयवों (हाथ, पैर, नाक, कान. आँख आदि) का उल्लेख करना ही पड़ता है। संभवतः इसीलिए विवश होकर आर० पी० ब्लैकमर को आलोचक के करणीय के संदर्भ में लिखना पड़ा है कि कविता की समीक्षा संवेद्य-तत्त्व और रूप-तत्त्व के रूप में ही संभव है।[१] कृति के कथ्य और शिल्प की एकरूपता का बार-बार ढिंढोरा पीटनेवाले और कृति की समग्रता में ही उसके विश्लेषण को खंडित विश्लेषण पर तरजीह देनेवाले हिंदी समीक्षक अशोक वाजपेयी भी अंततः निरुपाय होकर निर्दिष्ट समीक्षा-पद्धति को असंभव मान ही लेते हैं —"जहाँ सिद्धांततः यह मान भी लिया गया है कि कथ्य और शिल्प दरअसल अविभाज्य हैं, वहाँ भी व्यवहार में इस प्रारम्भिक विभाजन के बाद (यानी रचना के कथ्य-पक्ष और शिल्प-पक्ष के विचार के बाद) रचना को आलोचनात्मक ढंग से उसकी पूर्णता में उपलब्ध कर पाना बहुत कठिन और अक्सर असंभव हो जाता है।"[२] डॉ० रमेश कुंतल मेघ भी सर्जनात्मक धरातल पर की जानेवाली कृति की इस संश्लिष्ट समीक्षा को असंभव न मानते हुए भी एक कठिन काम अवश्य बतलाते हैं।[३] (यों वे अपनी इस अभीष्ट समीक्षा-प्रणाली को कहाँ तक संभव बना सके हैं इसका एक हल्का अनुमान उनके द्वारा कामायनी की भूमिका के लिए प्रयुक्त विशेषण 'मनस्सौंदर्य-सामाजिक' से ही लगाया जा सकता है; क्योंकि 'विशेषण' का अर्थ है भेदीकरण और जहाँ भेदीकरण होगा वहाँ समग्र के स्थान पर खंडित दृष्टि ही होगी।) और फिर 'काव्य-विश्लेषण' शब्दद्वय में 'विश्लेषण' शब्द का तो अर्थ ही है खंड-खंड करना। वास्तव में सैद्धांतिक स्तर पर रचना के संवेद्य और रूप की अविभाज्यता स्वीकार करते हुए भी व्यवहारतः अर्थात् विश्लेषण की

१. लैंग्वेज ऐज़ जेस्चर, पृ० ३७२

२. फिलहाल, पृ० १७५

३. मिथक और स्वप्न : कामायनी की मनस्सौंदर्यसामाजिक भूमिका, पृ० ३१

प्रक्रिया में, उसे खंडश: ही देखना होगा। यही कारण है कि नये समीक्षक का बल अपने इस सिद्धांत की स्थापना पर ही अधिक रहा है, व्यवहार के रूप में वह इसे बहुत ही कम उतार सका है और जहाँ कहीं उसने इसे व्यावहारिक रूप दिया भी है वहाँ इसके हाथ घोर विफलता ही लगी है; क्योंकि रचना की समीक्षा में या तो वह खंड दृष्टि को बचा नहीं पाया है और जहाँ पर उसने इस दृष्टि को सायास बचाना चाहा है वहाँ वह रचना का सार मात्र प्रस्तुत करके रह गया है।

३. **पदान्वय का विरोध :** अधिकांश नये समीक्षक आर्कीबाल्ड मैकलीश के इस सिद्धांत-वाक्य में विश्वास रखते हैं कि 'कविता की सार्थकता उसके अर्थ-गर्भ होने में नहीं, प्रत्युत उसके अस्तित्व में है।' अभिप्राय यह कि नया समीक्षक यह मानकर चलता है कि कविता का पदान्वय संभव नहीं है और न इसमें उसकी सार्थकता ही है। सर्जना के क्षणों की अनुभूति, जो रूपक, वक्रता, वैदग्ध्य, छंद आदि विभिन्न काव्योपकरणों का अवलंब लेकर कविता के रूप में जन्म लेती है, पदान्वय के द्वारा छिन्न-भिन्न हो जाती हैं; क्योंकि कविता को पदान्वय में परिणत करते ही वे रूपकादि अपना कार्य बंद कर देते हैं जो अनुभूति की समग्रता को अविकल रूप में संप्रेषित करने में बहुत बड़े दायित्व का निर्वाह करते हैं। पदान्वय के द्वारा हमें जो कुछ प्राप्त होता है वह कविता का कथ्य न होकर कोई और ही पदार्थ होता है। इसीलिए केनेथ बर्क ने कविता के अर्थ को 'धोखे' की संज्ञा दी है।[1] ब्रुक्स के विचार से कविता का पदान्वय प्रकृति की विकृति है अत: वे उसे 'भोंड़ा' मानते हैं। उनका कथन है कि यदि मेरे भोंड़े पदान्वय में सत्य का कुछ अंश निहित है तो इसका अर्थ यह कि कविता (अपने से अतिरिक्त) कुछ और भी संप्रेषित कर रही है, यद्यपि मेरे लिए यह सिद्ध करना बड़ा कठिन है कि पदान्वय के रूप में कविता कुछ संप्रेषित भी कर रही है। वस्तुत: मैं इस या उस पदान्वय पर बल देने की चिंता नहीं करता। वास्तव में यह इसलिए है कि अव्यावहारिक पदान्वय में मेरा विश्वास ही नहीं है। मैं तो समझता हूँ कि यह प्रश्न ही बड़ा भद्दा है कि 'कविता संप्रेषित क्या करती है?' इसका अर्थ यह नहीं कि कविता कुछ संप्रेषित ही नहीं करती। कविता बहुत कुछ संप्रेषित करती है और भरपूर रूप में संप्रेषित करती है तथा इतने मार्दव के साथ संप्रेषित करती है कि अपने संप्रेष्य को स्वयं कविता ही वहन कर सकती है, कविता से कम सूक्ष्म किसी साधन के द्वारा संप्रेष्य को व्यक्त करने का प्रयास उसे नष्ट-भ्रष्ट ही कर

---

1. द फिलॉसफी ऑफ़ लिटरेरी फ़ॉर्म्स, पृ० १५९

देगा।[1] कविता के पदान्वय की इसी समस्या पर आगे विचार करते हुए ब्रुक्स कहते हैं कि कविता उस कथ्य का भाषायी वाहन-भर नहीं है जिसे कविता में सर्वाधिक काव्यात्मकता के साथ संप्रेषित किया गया है, वरन् वह तो अवितथ रूप में संप्रेषित कथ्य का एकमात्र भाषायी वाहन है। प्रकारांतर से वे कहना यह चाहते हैं कि कविता संप्रेषित विशिष्ट कथ्य का स्वयं माध्यम है, उसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से (पदान्वय आदि के द्वारा) उस कथ्य को संप्रेषित ही नहीं किया जा सकता।[2] "कविता कवि की समग्र अनुभूति का संधान है, संप्रकाशन है, रूपायन है"[3]; अतः किसी अन्य रूप में उसका निर्वचन कैसे संभव है!

नये समीक्षकों में ब्रुक्स कविता के पदान्वय के इतने विरोधी हैं कि उन्होंने 'पदान्वय के अपसिद्धांत' (हेरेसी ऑफ़ पैराफ्रेज़) पर पूरा एक निबंध ही लिख मारा है। उनका यह मत है कि कविता में व्यवहार्यमाण शब्द संदर्भ से संश्लिष्ट होकर ऐसे विभिन्न अर्थों को विकीर्ण करने लगते हैं जिनका कोश में कोई अस्तित्व ही नहीं है, और इसीलिए कविता का पदान्वय प्रवंचना-भर है। उनका प्रश्न है, "कहाँ है वह कोश जिसमें कविता के शब्दों का न्यास किया गया हो? सत्य तो यह है कि कवि निरंतर भाषा का पुनर्निर्माण करने के लिए विवश है। इलियट ने भी कहा है कि कवि का कार्य 'भाषा को अर्थ से असंपृक्त बनाना' है। और फिर वैज्ञानिक शब्दावली की दृष्टि से ठीक यही वह कार्य है जिसे कवि निष्पन्न करता है: क्योंकि, बौद्धिक दृष्टि से देखने पर, आदर्श भाषा वह है जिसमें एक शब्द का एक ही अर्थ हो, और शब्द तथा अर्थ के बीच का यह संबंध सतत बना रहे। किंतु कवि जिस शब्द का प्रयोग करता है उसे अर्थ के एक असंपृक्त अणु के रूप में नहीं, वरन् अर्थ की एक संभावना, बल्कि कहें कि अर्थों के एक संयोग अथवा समवाय के रूप में देखना होगा।"[4]

जॉन पाल प्रिचर्ड ने ब्रुक्स के इस पदान्वय-विरोध को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"ब्रुक्स की दृष्टि में आलोचना का प्रमुख दोष कविता के ऊपर की गयी टिप्पणी और कविता के आंतरिक तत्त्व को एक मान लेना है। आलोचक गद्यानुवाद में कविता के पुनर्कथन को उसकी व्याख्या की दिशा में उठाया गया एक क़दम समझते हैं। ब्रुक्स का कहना है कि इस प्रकार की प्रक्रिया कविता के पदान्वययोग्य अंश को उसका अनिवार्य अंग मानकर चलती

१ द वेल रॉट अर्न, पृ० १७१-७२
२. वही, पृ० ६०
३. वही, पृ० ६०
४. वही, पृ० १७१-७२

है। किंतु इस प्रकार का कार्य उस कविता को रूप-तत्त्व और संवेद्य-तत्त्व के रूप में बाँट देता है जो निसर्गतः एक समग्रता है; और तब कविता के संवेद्य, तथा विज्ञान, दर्शन और धर्मशास्त्र के कथन में अंतर कर पाना बड़ा कठिन हो जाता है। पदान्वय में रूपक तथा छंद का काव्यात्मक कार्य एकदम उपेक्षित रह जाता है। यह पदान्वय कविता की कल्पनाप्रवण संगति के स्थान पर तार्किक संगति को ला बिठाता है, और समग्र कविता के प्रस्तुतीकरण में पूर्णतः असफल हो जाता है।"[1] आगे वे लिखते हैं — "रूप-तत्त्व और संवेद्य-तत्त्व एक अविभाज्य इकाई का निर्माण करते हैं। कल्पनाप्रवण कविता में संगत जान पड़नेवाले विचार गद्यानुवाद में प्रस्तुत किये जाने पर बकवास, यहाँ तक कि असत्य तक जान पड़ सकते हैं। काव्यात्मक सत्य वैज्ञानिक तथ्य की भाँति दोहरे नहीं हो सकते।"[2]

ईवोर विंटर्स भी जब यह कहते हैं कि "कृति का पदान्वययोग्य कथ्य कृति के समकक्ष कभी नहीं हो सकता, और इसीलिए हमारे साहित्य-सिद्धांत को कृति के पदान्वययोग्य कथ्य का नहीं, प्रत्युत स्वयं कृति का विवेचन करना चाहिए,"[3] तब वे निश्चित रूप से कविता के पदान्वय का विरोध करते हैं।

रैंसम का दृष्टिकोण थोड़ा उदार है। उन्होंने पदान्वय को समीक्षा तो नहीं माना है, किंतु समीक्षा का उपादान अवश्य स्वीकार किया है। उनका कथन है कि सारांश अथवा पदान्वय को कृति की वास्तविक अंतर्वस्तु के तुल्य नहीं मानना चाहिए। समीक्षक अपने विश्लेषण में इन उपकरणों का प्रयोग तो करता है किंतु उसे याद रखना चाहिए कि कलावस्तु 'अंतर्वस्तु का सार मात्र' है और इसीलिए वह समीक्षक के लिए साध्य नहीं है।[4] पदान्वय से होनेवाली हानि पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने अपने निबंध 'द प्रैग्मैटिज़्म ऑफ़ आर्ट' में लिखा है कि वास्तविक समीक्षा के स्थान पर पदान्वय के इस प्रयोग का कविता पर अत्यंत घातक प्रभाव पड़ता है क्योंकि पदान्वय हमें पिंड से वंचित कर देता है और संपूर्ण कृति को एक तर्कसंगत संरचना मात्र बना डालता है। इस प्रक्रिया में वह शब्द-विधान — कविता में संनिहित विवरण तथा वैशिष्ट्य — विनष्ट हो जाता है जो कविता को ऐसी पूर्णता प्रदान

---

१. क्रिटिसिज्म इन अमेरिका, पृ० २५३

२. वही, पृ० २५३

३ इन डिफ़ेंस ऑफ़ रीज़न, पृ० ४

४. द वर्ल्ड'स बॉडी, पृ० ३४४

करता है जिसकी उपलब्धि विज्ञान अपनी अमूर्त प्रतिलिपियों द्वारा नहीं कर सकता।[1]

सारांश यह है कि नया समीक्षक किसी कविता की आलोचना करते समय उसके पदान्वय के पक्ष में नहीं है।

ब्लैकमर कविता में प्रयुक्त शब्दों के कोशगत अर्थों का उस तरह तो पूर्णतः प्रत्याख्यान नहीं करते जिस प्रकार ब्रुक्स; हाँ, वे इतना अवश्य मानते हैं कि कविता के शब्द अन्य शब्दों के संदर्भ में व्यवहृत होकर अपने कोशगत रूप को थोड़ा-सा बदल देते हैं।[2] दूसरे शब्दों में, ब्लैकमर भी कहना यही चाहते हैं कि कविता को पदान्वय में अवतरित नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत प्रसंग में मरे क्रीगर की विचारधारा पर भी दृष्टिपात कर लेना अप्रासंगिक न होगा। उनका मानना है कि यदि किसी कविता के अर्थ को पदान्वय में परिवर्तित किया जा सकता है तो इसका अर्थ यह कि हम प्लेटो की भाँति उसकी समग्रता का अतिसरलीकरण कर रहे हैं। यदि किसी कविता का अर्थ उसके पदान्वय में चुक जाय तो समझना चाहिए कि वह कविता वास्तविक न होकर जाली है।[3]

लगभग सभी नये समीक्षक जहाँ एक स्वर से कविता के पदान्वय का विरोध करते दिखायी पड़ते हैं वहीं ईवोर विंटर्स की आलोचना में कुछ अन्यथा ध्वनि भी सुनायी पड़ती है। यह ठीक है कि विंटर्स पदान्वय को कविता के समकक्ष स्वीकार नहीं करते हैं तथापि वे उन कविताओं को दोषयुक्त मानते हैं जिन्हें पदान्वय में परिवर्तित नहीं किया जा सकता।[4]

माना कि पदान्वय कविता का स्थानापन्न नहीं हो सकता; क्योंकि कविता के शब्दों के क्रम-विन्यास में रंचमात्र के व्यतिक्रम से उसका सारा सौंदर्य तिरोहित हो जायेगा — उसकी सर्वाधिक प्रभविष्णुता शब्दों के उसी क्रम और अभिव्यक्ति के उसी तेवर में निहित है जिसमें कवि ने उसे रूपायित किया है, उसे बदलते ही उसका समग्र सौष्ठव लुप्त हो जायेगा। फिर भी पदान्वय समीक्षा का एक आवश्यक उपकरण है। समीक्षक इसी सूत्र के सहारे किसी कविता में अवगाहन कर उसकी खोज-बीन में प्रवृत्त होता है।

---

१. केन्यन रिव्यू, दो, पृ० ७८

२. द्रष्टव्य, क्रिटिसिज्म इन अमेरिका, लेखक—जॉन पाल प्रिचर्ड, पृ० २५७

३. द प्ले एंड प्लेस ऑफ़ क्रिटिसिज़्म, पृ० १६७

४ इन डिफ़ेंस ऑफ़ रीज़न, पृ० ३१

आई० ए० रिचर्ड्स ने अपने ग्रंथ 'द प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' में लिखा है कि हम किसी काव्यात्मक उक्ति को तब तक हृदयंगम नहीं कर सकते जब तक हम लेखक के "आशय" (उसके पदान्वययोग्य अर्थ', उसके 'भावावेग' (विषय के प्रति उसकी अभिवृत्ति), उसकी 'वचनभंगी' (प्रमाता के प्रति उसकी अभिवृत्ति) और उसके समग्र उद्देश्य या 'मनोवृत्ति' को नहीं समझते।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक कविता का अपना एक विशिष्ट संदेश किंवा कथ्य होता है। यदि वह अपने इस कथ्य को पाठक तक प्रेषित न कर सकी तब उस कविता की मृत्यु अवश्यंभावी है। आज दुरूहता, बौद्धिकता और शब्दों के साथ खिलवाड़ के नाम पर जिन कविताओं की रचना हो रही है वे अधिक समय तक जीवित न रह सकेंगीं। आज का कवि आर्कीबाल्ड मैकलीश के कथन को सिद्धांत-सूत्र बनाकर अपने हृदय के तमसाच्छन्न गह्वर की ऐसी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देने में लगा हुआ है जो पाठक तक संप्रेषित ही नहीं हो पातीं। बहुत सारे कवि तो ऐसे हैं जो इन अनुभूतियों की आड़ में अपने अशक्तिजन्य दोष को छिपाने में लगे हुए हैं। इतिहास साक्षी है कि काल-प्रवाह में पड़कर आज तक केवल वे ही रचनाएँ टिक सकी हैं जो अपने को सहृदय-समाज तक संप्रेषित कर पायी हैं। इस संप्रेषणीयता का मूलाधार पदान्वय है। अतः समीक्षा मे इसका आमूल निषेध काम्य नहीं है।

४. **काव्य-भाषा का गंभीर चिंतन और निर्वचन :** भाषा कविता का माध्यम तभी से है जब से कविता का जन्म हुआ और इसीलिए जब से कविता की आलोचना आरंभ हुई तभी से भाषा का विश्लेषण होता आया है—पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र के जनक अरस्तू के यहाँ वह त्रासदी, महाकाव्यादि के विवेच्य तत्त्वों में से एक है, किंतु उसमें जितनी रुचि नये समीक्षक ने प्रदर्शित की है उतनी किसी भी युग के किसी भी आंदोलन के अनुयायी समीक्षक ने नहीं की। उसकी दृष्टि में भाषा कितनी महत्त्वपूर्ण है, इसका कुछ अनुमान एलेन टेट के इस वक्तव्य से ही लगाया जा सकता है— "कवि का 'दर्शन' जो भी हो, अंततः आप उसे उसकी भाषा के माध्यम से जानेंगे; उसे जो कुछ कहना है उसकी सही सीमा उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा की गुणवत्ता ही है।"[1] इस प्रकार टेट भाषा को स्पष्ट ही कवि की कसौटी स्वीकार करते हैं। नयी समीक्षा में भाषा की इस महत्ता को डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने भी लक्षित किया है— "नयी समीक्षा यह मानकर चलती है कि कविता स्वनिष्ठ है और उसकी सत्ता

१. ऑन द लिमिट्स ऑफ़ पोइट्री, पृ० ८५

स्वायत्त होती है; कविता स्वयं अपना साध्य है; अतः उसको नैतिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक लक्ष्य का साध्य बनाना उचित नहीं।"[1] कविता के गंभीर भाषिक विश्लेषण में नये समीक्षक ने जो प्रवृत्ति दिखायी है उसका उद्घाटन करते हुए उन्होंने लिखा है—"नयी समीक्षा काव्य-कृति को गहराई के साथ पढ़ने और सूक्ष्म दृष्टि से किए गए अभिव्यक्ति के विश्लेषण के आधार पर अर्थच्छाया के उद्घाटन की महत्ता पर बल देती है। अतः नयी समीक्षा 'पाठ' को निकट से पढ़कर शिल्प एवं भाषा-कौशल के विश्लेषण के माध्यम से कृति को आलोकित करने के पक्ष में है।"[2] कुछ इसी प्रकार के शब्द डॉ० राजनाथ के भी हैं—"नये समीक्षक ऐकांतिक रूप से कविता की भाषा पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं और, उसमें प्रयुक्त शब्दों की विविध अर्थच्छायाओं के संदर्भ में, कविता की संरचना का निरूपण करते हैं।"[3]

देखना यह है कि ये विभिन्न समीक्षक नये समीक्षक की जिस काव्य-भाषा के प्रति आकर्षण की बार-बार घोषणा कर रहे हैं उस काव्यभाषा के विषय में स्वयं उसका अपना दृष्टिकोण क्या है। प्रत्येक नया समीक्षक यह मानता है कि कविता एक विशिष्ट भाषिक संरचना है। काव्य-भाषा के इसी वैशिष्ट्य को आलोकित करने के लिए सभी नये समीक्षकों ने अपना-अपना पृथक् प्रतिमान स्थापित किया है। रैंसम कविता को शब्द-विधान-रूप मानते हैं। यों उनका कथन है कि कविता अर्थ-विधान और शब्द-विधान की टकराहट का परिणाम है, किंतु सर्जना की प्रक्रिया में शब्द-विधान अर्थ-विधान पर हावी हो जाता है। उनका यह शब्द-विधान समग्र काव्य-सौंदर्य का पर्याय है—काव्य-भाषा को अलंकृत करने के जो भी उपकरण हैं वे सारे शब्द-विधान में आ जाते हैं और इन सबका निर्वचन ही रैंसम की आलोचना का मूलाधार है।

केनेथ वर्क ने कविता को प्रतीक-रूप स्वीकार किया है। कविता एक शाब्दिक क्रिया है अतः उनकी दृष्टि में भाषा प्रतीक-रूप है। इसी प्रतीक के सहारे वर्क भी कविता की भाषा की उधेड़-बुन में व्यस्त दिखायी देते हैं।

टेट के तनाव-सिद्धांत का मूल आधार भाषा ही है। जब वे बहिस्तनाव और अंतस्तनाव के संतुलन को कविता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण बताते हैं तब वे अनिवार्यतः भाषा के उस रूप की चर्चा कर रहे होते हैं जिसमें अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच सामंजस्य हो जाया करता है। उनके अनुसार, "कविता

१. नई समीक्षा, संपादक—महेंद्र चतुर्वेदी तथा डॉ० राजकुमार कोहली, पृ० १५३
२. वही, पृ० १५३
३. समन्विति, वर्ष १, अंक १ (अगस्त ७३—जनवरी ७४), पृ० ३६

प्रतीकीकरण-प्रक्रिया से उद्भूत एक ऐसी व्यवस्थित संघटनात्मक भाषिक अभिव्यक्ति है जिसमें अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ के बीच आंतरिक संतुलन होता है !"[१]

ईवोर विंटर्स के विचार से कविता में आद्यंत लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ युगपत् काम करते हैं; हालाँकि अर्थ-द्योतन की प्रक्रिया में वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ को सहारा देता है।[२]

ब्लैकमर ने काव्य-भाषा का प्राण भंगिमा को माना है। यह भंगिमा ही है जो भाषा को गति अथवा स्पंदन प्रदान करती है। भंगिमा के अभाव में भाषा मृत हो जायेगी, वह कुछ भी वहन करने में सर्वथा अशक्त हो जायेगी। भाषा के अर्थ का ज्ञान भंगिमा द्वारा ही होता है। कविता में यह भंगिमा पुनरावृत्ति, प्रतीक, श्लेष, कथावस्तु, छंद, टेक आदि अनेक रूपों में अपना कार्य करती है।

इसके अतिरिक्त ब्लैकमर ने कविता की भाषा के विषय में कुछ अन्य विचार भी व्यक्त किये हैं। जैसे, वे कहते हैं कि (अ) भाषा अनुभूतिप्रेरित होनी चाहिए;[३] (आ) पाठक यदि किसी कविता को अधूरा छोड़ देता है तो इसका अर्थ यह कि उस कविता में भाषा और संवेदना, छंद और लय के बीच संबंध का ठीक निर्वाह नहीं हुआ है;[४] (इ) शब्दों में अनुभूतियों को पूर्ण रूप में व्यक्त करने की क्षमता है। यद्यपि हम लेखक से यह आशा नहीं कर सकते कि वह अनुभूतियों की इस पूर्णता को प्राप्त कर लेगा तथापि उसे इसके आस-पास पहुँचने का प्रयास करना चाहिए।[५]

ब्रुक्स के लिए "कविता की भाषा विरोधाभास की भाषा होती है। विरोधाभास की यह भाषा परिष्कृत, दुरूह, वैदग्ध्यपूर्ण और चमत्कारमयी होती है; यह आत्मा की भाषा तो है ही नहीं। .. हमारे पूर्वाग्रह हमें यह मानने को विवश करते हैं कि विरोधाभास की भाषा बौद्धिक होती है भावात्मक नहीं; वह वैदग्ध्यपूर्ण होती है सारगर्भित नहीं; वह तर्कपरक होती है दैवी प्रेरणा से प्रसूत अतार्किक नहीं।[६]" इतना सब कुछ जानते हुए भी ब्रुक्स काव्य की भाषा को मानते विरोधाभास की ही भाषा हैं। उनका दृढ़ विश्वास है

---

१. नई समीक्षा, पृ० १५६ पर उद्धृत
२ इन डिफ़ेंस ऑफ़ रीज़न, पृ० ५३४
३. लैंग्वेज ऐज़ जेस्चर, पृ० ४२४
४. वही, पृ० ४३१
५. वही, पृ० ३२३
६. द वेल रॉट अर्न, पृ० १

कि कविता के लिए यही भाषा सर्वाधिक उपयुक्त अतएव अपरिहार्य होती है। उनकी इस भाषा में वैदग्ध्य, वक्रता और रूपक का प्रकृत्या अंतर्भाव है। अपने निबंध 'आयरनी ऐज़ ए प्रिंसिपिल ऑफ़ स्ट्रक्चर' में उन्होंने काव्य-भाषा की समस्या पर विचार करते हुए कहा है कि जीर्ण भाषा का पुनरुद्धार आज के कवि का प्रमुख दायित्व है — "आधुनिक कवि के कंधों पर अशक्त एवं नीरस भाषा की पुन:स्थापना का दायित्व है जिससे यह भाषा और अधिक शक्ति और सटीकता के साथ एक बार फिर अर्थों का वहन कर सके। यों तो भाषा में वैशिष्ट्य के आधान तथा उसके संशोधन का कार्य सतत चलता रहता है तथापि आधुनिक कवि को तो इसे एक विशिष्ट भार के रूप में ढोना है।"[1]

एंपसन का मंतव्य है कि कविता की भाषा का मूल गुण अनेकार्थता है। ऐसी भाषा जिसमें एक से अधिक अर्थ प्रदान करने की संभावना नहीं है, कविता की भाषा नहीं बन सकती। उन्होंने इस अनेकार्थता के सात रूपों का विवेचन किया है, किंतु उनके अपने ही कथनानुसार इसके और भी अनेक भेद हो सकते हैं।

इस प्रकार नये समीक्षकों ने काव्य-भाषा के विषय में विभिन्न सिद्धांतों की स्थापना के साथ ही अन्य कतिपय दृष्टियों से भी उस पर विचार किया है।

भाषाविषयक सिद्धांतों के क्षेत्र में नये समीक्षकों के बीच भले ही कुछ अंतर लक्षित हो, किंतु सबका गंतव्य एक है और वह है कविता की भाषा का निर्वचन। इन सभी ने अँग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवियों की कविताओं की भाषा का विश्लेषण बड़े ही मनोयोग से किया है।

स्पष्ट है कि नया समीक्षक काव्य-भाषा के निर्वचन को ही आलोचना का साध्य मान बैठा है। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि कवि की अनुभूति की वाहक भाषा ही है, किंतु नया समीक्षक किसी कविता की आलोचना करते समय यह भूल जाता है कि भाषा तो साधन-भर है, साध्य तो कवि की अनुभूति का संप्रेषण है। लेखक अपने इस मंतव्य का स्पष्टीकरण एक उदाहरण के द्वारा करना चाहेगा —

---

१ ट्वेंटीएथ संचुरी क्रिटिसिज़्म, संपादक—विलियम जे० हैंडी तथा मैक्स वेस्टब्रुक, पृ० ६७

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
चिरेण नाभिं प्रथमोदबिंदवः ।।[१]

प्रस्तुत श्लोक में ऊपर से देखने पर तो यही जान पड़ता है जैसे कालिदास एक स्थिति का वर्णन करके रह गये हैं — स्थिति है, वर्षा-ऋतु के आगमन पर वर्षा की प्रथम बूँदों का तपस्यालीन पार्वती की बरौनियों पर पड़कर उनके अधरों, पयोधरों तथा त्रिवली से होते हुए नाभि-प्रदेश तक चले जाना। किंतु श्लोक में प्रयुक्त 'स्थित', 'ताडित', 'चूर्णित' तथा 'स्खलित' शब्द कुछ और ही कहानी कह रहे हैं। यह कहानी है, कालिदास-द्वारा पार्वती के विविध शरीरावयवों के सौंदर्य को चित्रित करने की —निर्दिष्ट शब्द क्रमशः पार्वती की बरौनियों की दीर्घता, अधरों की कोमलता, स्तनों की कठिनता तथा त्रिवली की गंभीरता के व्यंजक हैं। यहाँ पर कवि का साध्य स्पष्टतः पार्वती के विभिन्न अंगों की सुंदरता को ही अंकित करना है, उक्त शब्द तो साध्य-प्राप्ति में केवल सहायक हैं। हाँ, इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि कालिदास इन शब्दों के अभाव में अपने साध्य को प्राप्त नहीं कर सकते थे। अतः निष्कर्ष यह निकला कि आलोचना की इतिकृत्यता भाषा के विश्लेषण में नहीं, वरंच विश्लेषण के माध्यम से रचना के मर्म — मूलभाव — को उद्‌घाटित करने में है।

नये समीक्षक ने अर्थ-तत्त्व को नकार कर केवल शब्द-तत्त्व पर बल देकर ठीक नहीं किया। किसी लेखक को महान् बनानेवाला शब्द-तत्त्व नहीं अपितु उसकी दिगंतव्यापिनी कल्पना, नैतिक शक्ति, मर्मभेदिनी दृष्टि, प्राणिजगत् को उसकी समग्रता में आत्मसात् करने की क्षमता आदि गुण होते हैं। जयशंकर प्रसाद की महत्ता उनके शब्द-विधान के कारण नहीं प्रत्युत उक्त गुणों के ही कारण है — बल्कि उनकी भाषा की अनगढ़ता साहित्य के किसी विद्यार्थी से छिपी नहीं है। कवि जब अनुभूतिप्रेरित कल्पना के पंखों पर बैठकर उड़ान भरने लगता है तब भाषा उसके पीछे दौड़ी हुई स्वयं चली आती है। संप्रेष्य के अभाव में भाषा का अपना कोई मूल्य ही नहीं है। तभी तो एन० ए० स्कॉट, जूनियर ने लिखा है कि स्वयं कविता, दूसरे शब्दों में भाषा का ढाँचा, उसका अपना एक ऐसा नंगा रूप है जिसके आधार पर पाठक के मस्तिष्क में उसका कोई रूपाकार नहीं उभरता; क्योंकि वास्तविक कविता या वास्तविक

१. कुमारसंभव, ५/२४

उपन्यास एक ऐसी चीज़ है जिसे हम तभी आत्मसात् करना प्रारंभ करते हैं जब हमें लेखक की विचारधारा का कुछ ज्ञान प्राप्त होता है, जब हमें लेखक की उस दृष्टि का पता लगता है जिससे रचना उद्भूत हुई है, तथा जब मुद्रित पृष्ठ पर शब्द अपने संपूर्ण बहुमूल्य अर्थ को विकीर्ण करने लगते हैं।[१] नये समीक्षक का आलोचना-जगत् में यह महनीय योगदान होता यदि उसने अपनी आलोचना में शब्द-अर्थ के उचित सामंजस्य पर बल देकर उस सामंजस्य को निरखा-परखा होता।

भाषा के विवेचन में नये समीक्षक की एक कमी यह भी रही कि वह भाषा को उसके निरंतर विकसनशील रूप में नहीं देख सका है — उसने यह नहीं देखा है कि शब्दों के अर्थों में समय-समय पर क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं, वह तो केवल यही देख सका है कि विवेच्य कविता में शब्द अपना कार्य किस प्रकार कर रहे हैं। यही कारण है कि नये समीक्षक को परंपरानिष्ठ विद्वानों का कोपभाजन बनना पड़ा है; क्योंकि उन्होंने उसके इस कार्य को परंपरा के अनुशासन से पूर्ण मुक्ति का अभियान समझ लिया है।

५. **कविता और विज्ञान के अंतर पर बल :** नये समीक्षक ने बड़ी व्यग्रता से अनुभव किया है कि आज मानव के जीवन पर विज्ञान बड़ी तेज़ी से हावी होता जा रहा है। वैज्ञानिक भौतिकवाद के चक्कर में पड़कर वह दिन-प्रति-दिन सौंदर्यपरक मूल्यों को विस्मृत कर रहा है। इस स्थिति ने नये समीक्षकों के मन में यह भय उत्पन्न कर दिया है कि कहीं एक दिन यह विज्ञान कला अथवा कविता को संपूर्णतः ग्रस न ले; क्योंकि मानव के लिए जो सुख और सुविधाएँ विज्ञान जुटा रहा है और भविष्य में भी जुटा सकता है उन्हें कला अथवा कविता तो नहीं। इसी भय से भीत होकर वे विज्ञान से कविता की रक्षा करने के लिए परिकरबद्ध दिखायी देते हैं। सिद्धांतों एवं व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से उनके बीच कितना ही अंतर क्यों न दिखायी पड़े, किंतु इस मोर्चे पर वे सब एक हैं — विज्ञान पर कला की वरीयता सिद्ध करने में उन्होंने कोई क़सर नहीं छोड़ी है। मूल्य और भाषा, इन दोनों धरातलों पर वे विज्ञान को कविता के द्वारा चारों खाने चित कराने पर तुले हुए हैं।

सभी नये आलोचक कला की अनुभूति और विज्ञान की अनुभूति के बीच स्पष्ट विभाजन करते हैं। उनके अनुसार विज्ञान के सत्य और कला के सत्य में ज़मीन-आसमान का अंतर है। इस भेद को वे मात्रा का नहीं, प्रकार का मानते हैं। अपने निबंध 'पोइट्री एंड बिलीफ़' में आई० ए० रिचर्ड्स का

---

१. लिटरेचर एंड बिलीफ़, संपादक—एम्० एच० एब्राम्स, पृ० १३०

कहना है कि कवि का कार्य वैज्ञानिक वक्तव्य देना नहीं होता है; क्योंकि वैज्ञानिक वक्तव्य का सत्य अंततः मिलान का विषय है — उसे रसायनशाला में निरखा-परखा जाता है, जबकि भावात्मक उक्ति अर्थात् कविता में निहित सत्य की ग्राह्यता मुख्यतः किसी अभिवृत्ति पर आधारित होती है।[1] रैंसम ने कला के संसार और विज्ञान के संसार में पूर्ण पार्थक्य माना है और कहा है कि इन दोनों के क्रिया-कलापों में हेतु, प्रतिपाद्य और भाषा-प्रयोग, इन तीनों दृष्टियों से बड़ा अंतर है।[2] विज्ञान पर कला की वरीयता प्रतिपादित करते हुए वे लिखते हैं — "विशुद्ध विज्ञान का लक्ष्य ज्ञान-प्राप्ति है और कला ज्ञान के साथ-साथ सर्जना को भी अपना लक्ष्य मानती है – और इसीलिए वह विज्ञान से श्रेष्ठतर बन जाती है।"[3] ब्रुक्स ने, क्रोचे की ही भाँति, साहित्य को ज्ञान-रूप स्वीकार किया है और बताया है कि साहित्य हमें जो ज्ञान प्रदान करता है वह उस संसार का ज्ञान है जो (मानव-) मूल्यों पर आधारित है। यह ज्ञान गणितशास्त्रवेत्ता अथवा भौतिकी विशारद के अमूर्त संसार का ज्ञान नहीं है, अपितु उस संसार का ज्ञान है जिसकी परिकल्पना मानवीय संदर्भों में की जाती है।[4]

नये समीक्षकों के अनुसार विज्ञान में प्रयुक्त भाषा और काव्य में प्रयुक्त भाषा में भी पर्याप्त अंतर है। ऑडेन और रिचर्ड्स की मान्यता है कि विज्ञान में जहाँ भाषा का प्रतीकात्मक प्रयोग होता है वहाँ कविता में उसका भावात्मक प्रयोग।[5] इस दिशा में रैंसम का स्वर बड़ा ही विद्रोही है। वे वैज्ञानिक कथन को मात्र तटस्थ विवरण स्वीकार करते हैं और इस प्रकार उनके विचार से विज्ञान केवल अर्थ-विधान पर आधारित होता है, उसका अपना कोई शब्द-विधान होता ही नहीं;[6] जबकि कविता के मूल में अर्थ-विधान और शब्द-विधान की अन्विति होती है, बल्कि कविता में तो शब्द-विधान की ही प्रमुखता होती है, अर्थ-विधान गौण होता है। उन्होंने बड़े ही निभ्रांत शब्दों में स्थापना की है कि यद्यपि संकेतों का प्रयोग विज्ञान भी करता है और काव्य भी, तथापि विज्ञान में प्रयुक्त संकेत प्रतीक-रूप होते हैं जो निश्चित पदार्थों का अवबोधन कराते हैं जबकि काव्य में व्यवहृत संकेत बिंब-रूप होते हैं जो

१. एसेज इन मॉडर्न लिटरेरी क्रिटिसिज़्म, संपादक—रे बी० वेस्ट, जूनियर, पृ० १६८
२. द वर्ल्ड'स बॉडी, पृ० ३३२
३. द न्यू क्रिटिसिज़्म, पृ० २०६
४. ए शेपिंग ज्वॉइ, पृ० ११
५. द मीनिंग ऑफ़ मीनिंग, पृ० १४९
६. द न्यू क्रिटिसिज़्म, पृ० ५५

पदार्थों का मात्र अवबोधन ही नहीं कराते, वरन् उनके रूप को भी उकेरते हैं।[1] वस्तुतः रैंसम ने कविता की भाषा और विज्ञान की भाषा पर काफ़ी गहराई से सोचा है जिस पर प्रथम तथा द्वितीय अध्याओं में प्रकाश डाला जा चुका है। इन दोनों का भाषागत भेद क्लिअंथ ब्रुक्स के इन शब्दों में साकार हो उठा है — "विज्ञान की प्रवृत्ति शब्दों को सुस्थिर बनाने की ओर होती है, उन्हें एक सुनिश्चित अर्थ में जमा देने की ओर; इसके विपरीत कवि की प्रवृत्ति विच्छिन्नकारी होती है। यहाँ शब्द निरंतर एक-दूसरे को संशोधित करते रहते हैं और इस प्रकार अपने कोशगत अर्थों का अतिक्रमण कर जाते हैं।"[2]

यह तो असंदिग्ध है कि आज के युग में विज्ञान ने सामान्य मानव के लिए सुखोपभोगों के अनेक साधन जुटा दिये हैं, इसीलिए विज्ञान के प्रति उसका आकर्षण स्वाभाविक ही है। किंतु साथ ही वैज्ञानिक आविष्कारों की आसुरी शक्तियों को पाकर मानव दानव बनता जा रहा है और युद्ध के काले बादल सारे विश्व में मँडरा रहे हैं। मनुष्य-मनुष्य के बीच की दूरी सतत बढ़ती ही जा रही है। ऐसी स्थिति में मानव मानव बना रह सके, इसकी बड़ी आवश्यकता है। साहित्य के रूप में मानव-हृदय का उत्कृष्टतम रूप ही अभिव्यक्ति पाता है। अतएव साहित्य में नवनिर्माण की क्षमता होती है। विज्ञान सामान्यतः विनाशकारी रूप में ही हमारे समक्ष आता है। ऐसी स्थिति में विज्ञान की तुलना में साहित्य सर्वदा वरेण्य है। नये समीक्षक ने विज्ञान पर कविता की वरीयता का प्रतिपादन करके मानव को मानव बनाये रखने के प्रयास में सराहनीय योगदान किया है।

६. काव्य में परंपरा के प्रति आग्रह : प्रथम अध्याय में बताया जा चुका है कि नयी समीक्षा का जन्म टी० एस० इलियट से हुआ है। इलियट ने काव्य में परंपरा के निर्वाह पर बहुत अधिक बल दिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयं भी अपने काव्य में परंपरा का यथाशक्य पालन किया है। अतः उनकी इस परंपराविषयक धारणा को समझ लेना नितांत आवश्यक है। एक ओर जहाँ वे काव्य में निरंतर प्रयोग करने की बात कहते हैं वहीं दूसरी ओर वे परंपरा को भी अनिवार्य महत्त्व प्रदान करते हैं। किंतु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि उनके इन दोनों सिद्धांतों में परस्पर विरोध है। प्रयोगीकरण से उनका अभिप्राय यह है कि कथ्य की भंगिमा में नवीनता लायी

---

१. द न्यू क्रिटिसिज़्म, पृ० २८४-८५

२. द वेल रॉट अर्न, पृ० ६

जानी चाहिए। उनका कथन है कि जब हम किसी कवि की प्रशंसा करते हैं तो हमारी प्रवृत्ति उस कवि के उन पक्षों पर बल देने की होती है जो दूसरे कवि से नितांत भिन्न होते हैं। इस पक्ष-वैभिन्न्य को ही हम उस कवि की वैयक्तिकता कहकर पुकारते हैं। जब कोई कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों, विशेष रूप से, अपने से ठीक पूर्ववर्ती कवियों, से भिन्नता दिखाता है तो हम संतोष की साँस लेते हैं। हमारा प्रयास उस कवि के काव्य में किसी ऐसी वस्तु की खोज करने में होता है जिसे हम उस कवि से भिन्न किसी अन्य कवि में नहीं पाते, और जब हमें कोई ऐसी वैयक्तिक वस्तु मिल जाती है तो कवि-विशेष के काव्य में वही हमारे आनंद का कारण बनती है। किंतु प्रश्न है, क्या यह वैयक्तिकता परंपरा से अलग हटी हुई कोई दूसरी चीज़ है ? इलियट का उत्तर स्पष्ट रूप से नकारात्मक है। वे कहते हैं कि यदि हम कवि के पूर्वाग्रह को अलग रखकर उसके काव्य की छान-बीन करें तो हम देखेंगे कि उसकी कृति के सर्वोत्तम ही नहीं, वरन् सर्वाधिक व्यक्तिगत अंश वे होंगे, जिनमें उसके पूर्ववर्ती मृत कवि अत्यधिक ओजस्विता के साथ अपनी अमरता का संदेश दे रहे होंगे; अर्थात्, कवि की श्रेष्ठता और उसकी वैयक्तिकता के परिचायक उसकी रचना के ऐसे स्थल होंगे जहाँ पर पूर्ववर्ती कवियों का कथ्य मुखरित हो रहा होगा। प्रायः देखा जाता है कि कवि अपनी साहित्यिक आराधना के आरंभिक जीवन में अपने पूर्ववर्ती कवियों से प्रभाव ग्रहण करता है। किंतु यहाँ पर इलियट का आशय कवि के आरंभिक जीवन के प्रभाव-ग्रहण से न होकर उसकी पूर्ण परिपक्वता के काल के प्रभाव-ग्रहण से है। भाव यह कि अपने काव्य को स्थायित्व प्रदान करने के लिए कवि को अपने काव्य-जीवन के प्रौढ़ काल में भी दिवंगत उत्कृष्ट कवियों के विचारों को ग्रहण करना पड़ता है।[1]

अपनी परंपराविषयक इस धारणा को और अधिक स्पष्ट करते हुए इलियट कहते हैं कि यदि परंपरा का रूप केवल अपने से ठीक पूर्व के कवियों की पद्धतियों का आँख मूँदकर अनुसरण करने में निहित है तो निःसंदेह परंपरा को कोई प्रेरणा नहीं मिलेगी। हमने देखा है कि इस प्रकार की परंपरा का पालन करनेवाली अनेक काव्य-धाराओं ने जन्म लिया है और वे विनष्ट हो गयी हैं। इस प्रकार के पिष्ट-पेषण से तो नवीनता ही भली। परंपरा का अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक है। इसे उत्तराधिकार के रूप में नहीं प्राप्त किया जा सकता, और यदि कोई व्यक्ति इसे प्राप्त करना चाहता है

1. द सेक्रेड वुड, पृ० ४८

तो उसे महान् श्रम करना पड़ेगा। प्रथम तो इस परंपरा में वह ऐतिहासिक बोध सन्निहित है जो अपनी आयु के पच्चीसवें वर्ष के उपरांत भी काव्य-सर्जना करनेवाले व्यक्ति के लिए लगभग अपरिहार्य है। ऐतिहासिक बोध से तात्पर्य केवल अतीत की अतीतता (अतीत-बोध) से नहीं, वरन् उस अतीत की वर्तमानता से है; ऐतिहासिक बोध को दृष्टिपथ में रखकर रचना करनेवाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह केवल अपने ही रक्त से संबंध रखनेवाली पीढ़ी का अनुसरण न करे, वरन् रचना करते समय यह ध्यान रखे कि होमर से लेकर आज तक के संपूर्ण यूरोपीय साहित्य तथा उसके अपने देश के साहित्य की युगपत् सत्ता है। यही ऐतिहासिक बोध, जो समयातीत और सामयिक के अलग-अलग ज्ञान के साथ-ही-साथ समयातीत तथा सामयिक का साथ-साथ ज्ञान है, एक लेखक को परंपरावादी बनाता है। यही वह ज्ञान है जो लेखक को अपने सामयिक स्थान और अपनी सामयिकता के प्रति जागरूक बनाता है।[1]

कवि का महत्त्व भी परंपरा में ही निहित है; परंपरा के अभाव में उसके उचित मूल्य का निर्धारण नहीं किया जा सकता। दिवंगत कवियों एवं कलाकारों के संदर्भ में ही उसका महत्त्व आँका जाता है। कोई भी आलोचक कवि को परंपरा से अलग रखकर परख नहीं सकता; उसके उचित मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए आलोचक को मृत कवियों से उसका साम्य-वैषम्य दिखाना पड़ेगा।[2] इस साम्य-वैषम्य का अभिप्राय यह नहीं कि कवि मृत कवियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है अथवा हीन। यह तो एक ऐसी तुलना है जिसमें दो वस्तुओं को एक दूसरी के साथ नापा जाता है।[3]

परंपरावादी लेखक को इलियट का सुझाव है कि उसे अतीत में वर्तमान के अनुरूप कुछ परिवर्तन ला देना चाहिए। जो कवि इस बात के प्रति जितना अधिक जागरूक है, उसकी कठिनाइयाँ और उत्तरदायित्व उतने ही अधिकबढ़ जाते हैं।[4] "किंतु वर्तमान तथा अतीत में अंतर यह है कि सचेत वर्तमान एक प्रकार से अतीत की जागरूकता है, और जिसको कुछ सीमा तक मात्र अतीत की जागरूकता प्रदर्शित नहीं कर सकती।"[5] "जिस बात पर अधिक बल देना है वह यह कि कवि को अतीत की चेतना को आगे

१. द सेक्रेड वुड, पृ० ४८-४९
२. वही, पृ० ४९
३. वही, पृ० ५०
४. वही, पृ० ५०
५. वही, पृ० ५२

बढ़ाना चाहिए अथवा उपार्जन करना चाहिए, तथा उसे इस चेतना को अपनी समग्र साहित्योपासना में अग्रसर करना चाहिए।"[१] कविता के विषय में इलियट का विचार है कि वह उस अशेष कविता का जीवंत रूप है जो कभी लिखी जा चुकी है।[२]

काव्य के संदर्भ में निर्वैयक्तीकरण का सिद्धांत इलियट का बड़ा ही प्रसिद्ध सिद्धांत है। वे कहते हैं कि किये जानेवाले कार्य के प्रति अपने को पूर्णरूपेण समर्पित किये बिना कवि निर्वैयक्तीकरण तक पहुँच ही नहीं सकता। कवि को क्या करना है, इसे वह तब तक नहीं जान सकता जब तक वह (अपनी कल्पना के माध्यम से) उस समय में नहीं जीता जो केवल वर्तमान ही नहीं, वरन् अतीत का वर्तमान क्षण है; जब तक वह मृत के प्रति नहीं, वरन् परंपरा से जीवित के प्रति सचेत नहीं।[3]

इलियट का परंपरा के प्रति आग्रह उनकी इस मान्यता से सर्वथा व्यक्त हो जाता है कि परंपरा को खोकर हम अपनी वर्तमान की पकड़ को खो बैठते हैं।[४]

कवि को अपने युग के अनुरूप भाषा के ज्ञान के लिए भी परंपरा की शरण में जाना पड़ता है। "वस्तुतः, यदि अँग्रेज़ी के किसी कवि को आज के अनुरूप शब्दों के प्रयोग को सीखना है तो उसे उन कवियों का गंभीर अध्ययन करना पड़ेगा जिन्होंने अपने समय में शब्दों का सर्वोत्तम प्रयोग किया, जिन्होंने अपने समय में नवीन भाषा का निर्माण किया।"[५]

इलियट ने महाकवि के मानक तत्त्वों में परंपरा को भी एक तत्त्व स्वीकार किया है। उनके विचार से वह कवि उतना ही महान् है जितना वह अपने काव्य में परंपरा के अधिकाधिक विशृंखलित सूत्रों को फिर से जोड़ पाने में समर्थ हो पाता है।[६]

नये समीक्षकों में परंपरा के प्रति जो मोह लक्षित होता है वह इलियट की उक्त विचारधारा का ही परिणाम है। जब एफ़० आर० लीविस यह कहते हैं कि कवि परंपरा में, और परंपरा कवियों में जीवित रहती है[७] तब

---

१. द सेक्रेड वुड, पृ० ५२
२. वही, पृ० ५३
३. वही, पृ० ५६
४. वही, पृ० ६२
५. ऑन पोइट्री एंड पोइट्स, पृ० २२
६. द यूज़ ऑफ़ पोइट्री एंड द यूज़ ऑफ़ क्रिटिसिज़्म, पृ० ८५
७. रिवैलुएशन, भूमिका-भाग, पृ० १०

उन पर इलियट का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। अपने ग्रंथ 'रिवैलुएशन' में उन्होंने सभी कवियों को परंपरा में ही रखकर देखा है।

टेट भी कविता के क्षेत्र में परंपरा का पालन करने के पक्षपाती हैं। इस विषय में उनके भी प्रभाव-स्रोत टी० एस० इलियट ही हैं। जॉन पाल प्रिचर्ड ने टेट पर उनके प्रभाव का बड़े ही स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है।[1] टेट यह मानते हैं कि परंपरा और अनुभूति के बीच तनाव से जनित सामंजस्य ही काव्यकृति को जन्म दिया करता है।

ईवोर विंटर्स परंपरा (कन्वेंशन) को काव्य का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व स्वीकार करते हैं।[2] प्रयोगशीलता के विरोधी न होने पर भी वे पक्षधर परंपरा के ही हैं।

ब्रुक्स भी परंपराप्रिय समीक्षक हैं और परंपरा के विषय में उनका भी दृष्टिकोण इलियट से मिलता-जुलता है। उनके शब्द हैं — "निर्जीव प्रथाओं से चिपकने में स्पष्टतः कोई महत्त्व नहीं है। प्रत्युत एक स्वस्थ परंपरा में निरंतर संशोधनीयता की क्षमता होती है।"[3] अपनी इसी धारणा को स्थानीय परिवेश में अंकित करते हुए उन्होंने कहा —"दाक्षिणात्य कवि एक ओर तो अतीत को भावुकता के साथ अंकित करने का अनिच्छुक है और दूसरी ओर वह वर्तमान के स्थानिक परिवेश के वस्तुनिष्ठ वर्णनों तक अपने को सीमित नहीं रखना चाहता। ऐसी स्थिति में उसे अनिवार्यतः वर्तमान की चेतना से गुज़रकर दक्षिण के अतीत का विवरण प्रस्तुत करना होगा।"[4] अतीत और वर्तमान के प्रति युगपत् जागरूकता पर बल देते हुए वे लिखते हैं — "कोई भी व्यक्ति वर्तमान के प्रति ईमानदार हुए बिना वर्तमान और अतीत के बीच संबंध का संधान नहीं कर सकता — इसका अर्थ यह है कि उसे हमारे वर्तमान के इतिहासविरोधी वैशिष्ट्य को ध्यान में रखना होगा।"[5]

सारांश यह है कि प्रयोगशीलता का पक्षपाती होते हुए भी नया समीक्षक परंपरा का पल्ला नहीं छोड़ना चाहता। शेक्सपियर से लेकर आज तक के कवियों की कविताओं का सिलसिलेवार विवेचन उसकी इसी परंपरानिष्ठा का परिचायक है। वह इस तथ्य से अवगत है कि परंपरा से कटकर कोई भी

---

१ क्रिटिसिज़्म इन अमेरिका, पृ० २४७

२. इन डिफ़ेंस ऑफ़ रीज़न, पृ० ७९

३. मॉडर्न पोइट्री एंड द ट्रेडिशन, पृ० ७९

४. वही, पृ० ७५

५. वही, पृ० १०२

विचारधारा आगे नहीं बढ़ सकती; कला या साहित्य के क्षेत्र में तो परंपरा के हाथ से जाते ही अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।

परंपरा के प्रति नये समीक्षक का यह लगाव निस्संदेह उसका एक काम्य आचरण है। आज तक विश्व में जितने भी महाकवि हुए हैं उनकी कृतियों में इस गुण की निरंतर रक्षा की गयी है—कालिदास, सूर, तुलसी, दांते, शेक्सपियर, गेटे आदि की कृतियाँ इसीलिए महान् हैं कि उनकी धमनियों में परंपरा का रक्त प्रवाहित हो रहा है।

नये समीक्षकों का यह कथन भी सच है कि रूढ़ि अथवा अंधविश्वास का नाम परंपरा नहीं है। परंपरा निश्चय ही एक जीवंत, गतिशील और निरंतर परिवर्द्धित होती प्रक्रिया है। रुग्ण जातीय स्मृतियाँ परंपरा का अंग नहीं बन सकतीं; उन्हें तो परंपरा से उसी प्रकार विच्छिन्न करना होगा जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ और नीरोग रखने के लिए उसके सड़े-गले अंगों को काटकर फेंक देना पड़ता है। परंपरा के जो तत्त्व जड़ हो गये हैं अथवा जो मानव के कल्याण और उसकी प्रगति में घातक हैं उन्हें तो परंपरा से निकालना ही पड़ेगा। जब वैदिक ऋषि यह कहता है कि 'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नेतराणि' तब वह परंपरा के भ्रष्ट अंशों का परित्याग करके उसके स्वस्थ रूप के ही अपनाये जाने पर बल दे रहा है।

किंतु नये समीक्षकों की नीयत पर तब संदेह होने लगता है जब वे परंपरा की परिवर्तनशीलता पर कुछ अतिरिक्त आवेग के ही साथ बल नहीं देते वरन् उसके प्रति विद्रोह की भी आवाज़ उठाने लगते हैं। इससे लगने लगता है कि परंपरा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी वे इससे कट जाने के लिए आतुर हैं। यह ठीक है कि परंपरा जड़ नहीं होतीं, किंतु इसका अर्थ यह भी तो नहीं है कि उसे ड्राइंग रूम में रखे फूलदान के फूलों की तरह रोज़ बदल दिया जाय; क्योंकि ऐसी स्थिति में तो परंपरा के नाम पर अव्यवस्था फैल जाने का ही खतरा अधिक है। वस्तुतः आज आवश्यकता परंपरा के सही रूप को अपनाने की है। इसके लिए मध्यम मार्ग को ग्रहण करना होगा; अर्थात्, परंपरा की सही पकड़ के लिए न तो उसका जड़ रूप काम्य है और न ही उसका क्षण-क्षण में नवता को प्राप्त अतएव अव्यवस्थित रूप।

७. **समीक्षण और सर्जन का यौगपद्य :** विभिन्न आधुनिक समीक्षा आंदोलनों की एक विशेषता यह भी रही है कि उनके अनुयायियों ने समालोचना के साथ ही प्रायः सर्जना को भी हाथ में लिया है। बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि आज सर्जक ही समीक्षक बन बैठा है। ऐसा इसलिए हुआ

है कि उसे विश्वविद्यालयीय समीक्षक पर से विश्वास उठ गया है। वह समझता है कि ये विश्वविद्यालयीय समीक्षक उसकी सर्जना के साथ न्याय नहीं कर सकेंगे। सर्जक की इस अविश्वास-भावना ने ही उसे समीक्षण के कार्य को भी अपने हाथ में ले लेने के लिए विवश किया है। नया समीक्षक इस नियम का अपवाद नहीं है।

अनेक नये समीक्षक कवि, नाटककार, उपन्यासकार और कहानीकार भी हैं। टी० एस० इलियट आधुनिक आंग्ल साहित्य में एक अत्यंत प्रभावकारी शक्ति के रूप में उभरे हैं। उनकी कविता 'द वेस्ट लैंड' (१९२२) के प्रकाशन से एक नये युग का जन्म हुआ है। 'फ़ोर क्वार्टेट्स' (१९४३) की कविताओं ने उनकी प्रतिष्ठा और उपलब्धियों को चार चाँद लगा दिये। उनके अन्य काव्य-ग्रन्थों 'प्रुफ़्रॉक एंड ऑदर ऑब्ज़र्वेशंस' (१९१७), 'पोइम्स' (१९१९), 'ऐश-वेंसडे' (१९३०), तथा 'कॉलेक्टेड पोइम्स : १९०९-१९३५' (१९३६) को पर्याप्त ख्याति मिली है। अब तक उनके चार प्रमुख काव्य-नाटक भी प्रकाशित हो चुके हैं जिनके नाम हैं—'मर्डर इन द कैथीड्रल' (१९३५), 'द फ़ेमिली रियूनियन' (१९३९), 'द कॉकटेल पार्टी' (१९४९), तथा 'द कॉन्फ़िडेंशल क्लर्क' (१९५३)।

आई० ए० रिचर्ड्स भी टी० एस० इलियट की ही भाँति कवि और नाटककार, दोनों ही हैं। उनकी कविता की पुस्तकें हैं—'गुडबाइ अर्थ एंड ऑदर पोइम्स' (१९५८), 'द स्क्रीन्स एंड ऑदर पोइम्स' (१९६०), और 'इंटरनल कॉलॉकीज़ : पोइम्स एंड प्लेज़' (१९७२)। नाटकों के नाम हैं—'ए लीक इन द यूनिवर्स (१९५६), 'टुमॉरो मॉनिंग, फास्टस ! एन इन्फ़र्नल कॉमेडी' (१९६२) तथा 'व्हाइ सो, सॉक्रेटीज़ ? ए ड्रामाटिक वर्ज़न ऑफ़ प्लेटो'ज़ डाइलॉग्स' (१९६४)।

जॉन क्रो रैंसम अमेरिका के सर्वश्रेष्ठ कवियों में से एक हैं। उनके बहु-चर्चित काव्य-ग्रंथों के नाम हैं—'पोइम्स एबॉउट गॉड' (१९१९), 'आर्मेगडॉन' (१९२३), 'चिल्स एंड फ़ीवर्स' (१९२४), 'ग्रेस एंड मीट' (१९२४), 'टू जेंटिलमेन इन बॉन्ड्स' (१९२७), 'सेलेक्टेड पोइम्स' (१९४५)।

केनेथ बर्क के अब तक दो काव्य-संकलन प्रकाशित हुए हैं—'बुक ऑफ़ मोमेंट्स : पोइम्स : १९१५-१९५४' (१९५५) और 'कॉलेक्टेड पोइम्स : १९१५-१९६७' (१९६८)। उन्होंने एक उपन्यास भी लिखा है—'टुवर्ड्स ए बेटर लाइफ़' (१९३२)। उनके दो कहानी-संकलन भी हैं—'द

व्हाइट ऑक्सिन एंड ऑदर स्टोरीज़' (१९२४) तथा 'द कम्प्लीट व्हाइट ऑक्सिन : कॉलेक्टेड शॉर्टर फ़िक्शन' (१९६८)।

एलेन टेट मात्र कवि ही नहीं, नाटककार और उपन्यासकार भी हैं। कविता के क्षेत्र में उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं — 'द गोल्डेन मीन एंड ऑदर पोइम्स' (१९२३), 'मिस्टर पोप एंड ऑदर पोइम्स' (१९२८), 'ओड टू द कॉन्फ़ेडेरेट डेड' (१९३०), 'पोइम्स : १९२८-१९३१' (१९३२), 'द मेडिटेरे-नियन एंड ऑदर पोइम्स' (१९३६), 'सेलेक्टेड पोइम्स' (१९३७), 'सॉनेट्स ऐट क्रिस्मस' (१९४१), 'द विंटर सी : ए बुक ऑफ़ पोइम्स' (१९४४), 'पोइम्स : १९२०-१९४५' (१९४७), 'पोइम्स : १९२२-१९४७' (१९४८), 'टू कॉन्सीट्स फ़ॉर द आइ टु सिंग, इफ़ पॉसिबिल' (१९५०), 'पोइम्स' (१९६०) और 'द स्विमर्स एंड ऑदर सेलेक्टेड पोइम्स' (१९७०)। 'द गवर्नेस' एकमात्र नाटक है जिसका मंचन १९६२ ई० में हो चुका है, किंतु जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। उनके द्वारा रचित उपन्यास है — 'द फ़ादर्स' (१९३८)।

ईवोर विंटर्स की अब तक कविता की नौ पुस्तकें प्रकाश में आ चुकी हैं— 'द इम्मॉबांइल विंड' (१९२१), 'द मैग्पी'ज़ शैडो' (१९२२), 'द बेयर हिल्स' (१९२७), 'द प्रूफ़' (१९३०), 'द जर्नी एंड ऑदर पोइम्स' (१९३१), 'बिफ़ोर डिसास्टर' (१९३४), 'पोइम्स' (१९४०), 'द जाइंट वेपन' (१९४३), और अंतिम है — 'कलेक्टेड 'पोइम्स' (१९५२)।

आर० पी० ब्लैकमर की ख्यातिलब्ध काव्य-कृतियाँ हैं — 'फ़्रॉम जोर्डन्'स डिलाइट' (१९३७) और 'द सेकंड वर्ल्ड' (१९४७)। उनकी अनेक कविताएँ विभिन्न पुस्तकों तथा समीक्षात्मक पत्रिकाओं में भी प्रकाशित होती रही हैं।

रॉबर्ट पेन वारेन की गति कविता, नाटक, उपन्यास और कहानी, इन सभी में है। अब तक उनकी दस काव्य-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं — 'थर्टी-सिक्स पोइम्स' (१९३५), 'इलेवेन पोइम्स ऑन द सेम थीम' (१९४२), 'सेलेक्टेड पोइम्स' : १९२३-१९४३' (१९४४), 'ब्रॉदर टु ड्रेगंस : ए टेल इन वर्स एंड वॉइसेज़' (१९५३), 'प्रॉमिसेज़ : पोइम्स : १९५४-१९५६' (१९५७), 'यू, एंपरर्स एंड ऑदर्स : पोइम्स : १९५७-१९६०' (१९६०), 'सेलेक्टेड पोइम्स : न्यू एंड ओल्ड : १९२३-१९६६' (१९६६), 'इन्कार्नेशंस : पोइम्स : १९६६-१९६८' (१९६८), 'औडुबॉन : ए विज़न' (१९६९) तथा 'ऑर एल्स : पोइम/पोइम्स : १९६८-१९७३' (१९७४)। उनके द्वारा लिखित नाटक है — 'प्रॉउड फ्लेश' (१९४७) और 'आल द किंग्'स मेन' (१९६०)। इनमें से प्रथम का

केवल मंचन हुआ है, प्रकाशन नहीं। उन्होंने दस उपन्यास लिखे हैं — 'नाइट राइडर' (१९३९), 'ऐट हेविन्'स गेट' (१९४३), 'आल द किंग'स मेन' (१९४६), 'वर्ल्ड एनफ एंड टाइम : ए रोमांटिक नॉविल' (१९५०), 'बैंड ऑफ़ ऐंजिल्स' (१९५५), 'द केव' (१९५९), 'विल्डरनेस : ए टेल ऑफ़ द सिविल वार' (१९६१), 'फ़्लड ए रोमांस ऑफ़ आउर टाइम्स' (१९६४) तथा 'मीट मी इन द ग्रीन ग्लेन' (१९७१), 'ए प्लेस टु कम टु' (१९७७)। अब तक उनके दो कहानी-संकलन आये हैं — 'ब्लैकबेरी विंटर' (१९४६) और 'द सर्कस इन द ऐटिक एंड ऑदर स्टोरीज़' (१९४७)।

विलियम एंपसन की काव्य-कृतियाँ हैं — 'लेटर फ़ोर' (१९२९), 'पोइम्स' (१९३५), 'द गैदरिंग स्टॉर्म' (१९४०) तथा 'कॉलेक्टेड पोइम्स ऑफ़ विलियम एंपसन' (१९४९)।

कहने का तात्पर्य यह है कि अधिकांश नये समीक्षक सर्जक भी हैं। सर्जक के हाथ में ही समीक्षण का कार्य आ जाने से नयी आलोचना बहुत अधिक प्राविधिक हो गयी है। अपने समीक्षात्मक निबंधों में उद्भावित समीक्षादर्शों को ही टी० एस० इलियट अपनी कविता पर लागू करते रहे हैं। जॉन क्रो रैंसम की वैदग्ध्यपूर्ण एवं सुन्दरता से तराशी गयीं कविताएँ बिंबात्मक संक्षिप्तता तथा रूपकात्मक सूक्ष्मता की उस संघटना का परिचय देती हैं जिसकी सिफारिश उन्होंने अपनी आलोचना में की है। आर० पी० ब्लैकमर भी अपनी कविताओं में शिल्प के उन सिद्धांतों को व्यवहार में लाये हैं जिनका विवेचन उन्होंने अपने आलोचनात्मक निबंधों में किया है। सामान्यत: एक सर्जक-समीक्षक अपनी आलोचना में उसी प्रकार की सर्जना को प्रश्रय देगा जो स्वयं उसकी अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा के अनुरूप पड़ती है, और यही कारण है कि नये समीक्षकों ने कविता में प्रतीकवादी तत्त्वमीमांसीय परंपरा को अन्य सारी परंपराओं पर वरीयता दी है; क्योंकि इन सारे सर्जक-समीक्षकों ने अपनी कविता में इसी परंपरा को पुनरुज्जीवित किया है। यह उस आत्मरति का ज्वलंत निदर्शन है जो निष्पक्ष आलोचना के मार्ग में बाधा बनकर खड़ी हो जाती है।

दूसरी बात यह भी है कि समीक्षा और सर्जना के दोनों कार्य एक साथ सामान्यत: निभते नहीं हैं। एक व्यक्ति या तो अच्छा समीक्षक ही बन सकता है या फिर अच्छा सर्जक कलाकार ही। सारी शक्तियों को किसी एक दिशा में केंद्रित करने पर ही मानव को अधिक सफलता मिल सकती है। इन शक्तियों के द्विधा-त्रिधा विभक्त होते ही वह कहीं का नहीं रह जाता। हिंदी के रीतिकालीन कवियों का उदाहरण हमारे सामने है — आचार्य बनने की

धुन ने न तो उन्हें अच्छा कवि ही बनने दिया और न ही उत्कृष्ट कोटि का आचार्य। आज तक विश्व-साहित्य में, अकेले कोलरिज को छोड़कर, प्रथम कोटि का कवि-समीक्षक जन्मा नहीं है। अच्छा होता, यदि नया समीक्षक किसी एक ही दिशा की ओर अग्रसर हुआ होता।

८. **समीक्षा में वैदुष्य की अनिवार्यता का प्रतिपादन** : नया समीक्षक यह मानकर चलता है कि साहित्य-समीक्षक के लिए विद्वान् होना अनिवार्य है। यदि उसे विविध विषयों का ज्ञान नहीं है तो वह आलोचना करते समय कविता के साथ न्याय नहीं कर सकता। कारण यह कि कवि जब कविता की रचना कर रहा होता है उस समय विषय के अभिनिवेश से उसमें अनेक विषयों का समावेश स्वतः हो जाया करता है। समीक्षक के पास यदि इन विषयों की पृष्ठभूमि नहीं है तो उसके द्वारा किया गया कविता का विवेचन पूर्ण न हो सकेगा। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर डॉ० सी० डी० नरसिंहैया ने अपने लेख 'नई समीक्षा : एक मूल्यांकन' में लिखा है — "ज़रा सोचिए कि 'द वेस्ट लैंड' की आलोचना करने की योग्यता के लिए क्या-क्या अपेक्षित था। उसे ग्रीक और लेटिन काव्य का ज्ञान होना चाहिए; उससे दांते, शेक्सपियर का और तत्त्ववादी कवियों का, आगस्टन कवियों का, फ्रांसीसी प्रतीक-वादियों का और प्राच्य काव्य तथा दर्शन का, अंतःमनोविज्ञान का तथा नृविज्ञान और आधुनिक विज्ञान का ज्ञान भी अपेक्षित था। इस सबसे यह पता चलता है कि आलोचक से कितना व्यापक ज्ञान अपेक्षित है और ब्रुक्स, ट्रिलिंग तथा ब्लैकमर की आलोचना में इसका उदाहरण भी मिलता है। औरों में भी गहरे ज्ञान का परिचय चाहे हमें न मिलता हो, किंतु उनमें हमें विविध विषयों की जानकारी और उस स्तर की प्रतिक्रिया देखने को अवश्य मिलती है जिसकी कविता के पाठक के रूप में उनसे अपेक्षा की जा सकती है। इस प्रकार नई समीक्षा ने आलोचना के आयामों में अमित विस्तार दिया और आलोचक के लिए यह आवश्यक बना दिया कि वह उच्च कोटि का विद्वान् हो, ...।"[1]

आर० पी० ब्लैकमर ने अपने बहुचर्चित निबंध 'द लॉयन एंड द हॉनीकॉम्ब' में आलोचना के लिए विद्वत्ता को अनिवार्य अनुबंध माना है। यहाँ उन्होंने बताया है कि यद्यपि समीक्षा और वैदुष्य, दोनों पृथक्-पृथक् हैं तथापि वे एक-दूसरे के पूरक हैं और कभी-कभी तो ऐसी स्थिति आ जाती है कि दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।

---

१. समन्विति, वर्ष १, अंक १ (अगस्त ७३—जनवरी ७४), पृ० १८

विलअंथ ब्रुक्स ने भी अपने निबंध 'लिटरेरी क्रिटिसिज़्म : पोइट, पोइम, एंड रीडर' में कुछ इसी प्रकार की बात कही है। प्रस्तुत निबंध में उन्होंने साहित्यिक समालोचना और साहित्यिक विद्वत्ता को एक-दूसरे का नैसर्गिक सहायक स्वीकार करते हुए कहा है कि कुछ बिंदुओं पर जाकर तो ये दोनों एकाकार हो जाती हैं।

जॉन पाल प्रिचर्ड के विचार से यह नयी समीक्षा की बड़ी ही प्रबल प्रवृत्ति है।[१] लिओ गुर्को के शब्दों में, "नये समीक्षक अर्थ और स्पष्टता पर उतना बल नहीं देते हैं जितना कठोर तार्किक अभ्यास पर। इस प्रकार के अभ्यास को वे प्रखर मेधा का चिह्न मानते हैं।"[२]

नये समीक्षक-द्वारा वैदुष्य को आलोचना के लिए अपरिहार्य माने जाने के पीछे जो मूल कारण दृष्टिगत होता है वह यह कि नये समीक्षक साहित्यकार होने के साथ-साथ स्वयं भी अन्य अनेक विषयों के ज्ञाता हैं — यदि इलियट दर्शन के पंडित हैं तो रिचर्ड्स मनोविज्ञानविशारद हैं; यदि रैंसम की रुचि स्थापत्य में है तो केनेथ बर्क संगीत, कला तथा इतिहास के आचार्य हैं; यदि टेट तर्कशास्त्र में पारंगत हैं तो ब्लैकमर स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, नृत्य, अभिनय तथा संगीत में निष्णात हैं। यहाँ पर यह भी स्मरण रखना होगा कि नये समीक्षकों में अधिसंख्य सर्जक कलाकार भी हैं और उन्होंने अपनी कविताओं में अपने विविध-विषय-पांडित्य का परिचय दिया है। अतः वे अपने पाठक अथवा समीक्षक से भी यह आशा करते हैं कि उसे उन सारे विषयों का ज्ञान हो जिनका आधान उन्होंने अपनी कविताओं में व्यक्त या अव्यक्त भाव से कर दिया है।

यहाँ इस प्रश्न का उठना नितांत स्वाभाविक है कि वैदुष्य को समीक्षण का अनिवार्य उपकारक माना जाय अथवा नहीं, यदि माना जाय तो किस सीमा तक, और कहाँ पर पहुँचकर यह वैदुष्य आलोचना का अहित करने लग जाता है। इस विषय में तो शायद दो मत नहीं हो सकते कि विद्वत्ता आलोचना के लिए अत्यंत आवश्यक है और नये समीक्षक-द्वारा इसकी अनिवार्यता पर बल उचित ही है, किंतु यह एक निर्धारित सीमा में ही रहकर आलोचना का उपकार कर सकती है। जहाँ तक आलोचक की विद्वत्ता कविता के विविध अर्थों का उद्घाटन करती है वहाँ तक तो वह स्पृहणीय है, किंतु इससे आगे जहाँ आलोचक अपने पांडित्य के प्रदर्शन पर उतारू हो जाता है वहाँ उसका

---

१. क्रिटिसिज़्म इन अमेरिका, पृ० २५२
२. द ऐंगरी डिकेड, पृ० ७२

वैदुष्य कविता पर बोझ बन जाता है। नया समीक्षक बहुज्ञ है और उसकी बहुज्ञता का परिचय अनेक कविताओं के विवेचन में लक्षित होता है। कहीं-कहीं उसकी यह बहुज्ञता कविता और उसके पाठक के लिए भार बनकर रह गयी है। इसीलिए विली माइफ़र का कथन है कि नया समीक्षक कविता के साथ बौद्धिक खिलवाड़ करता है।[1]

६. **शुद्ध कविता का समर्थन** : जब से साहित्य पर चिंतन और मनन की प्रक्रिया आरंभ हुई है तब से लेकर ही मनीषियों ने काव्य-प्रयोजन पर अपने अपने ढंग से विचार व्यक्त किये हैं। सामान्यतः काव्य-प्रयोजन की यह चिंता-धारा आनंद और उपदेश, इन दो कगारों का स्पर्श करती हुई बहती रही है। इतना अवश्य है कि यह धारा कभी एक कगार की ओर अधिक उन्मुख हो गयी है तो कभी दूसरे की ओर; कभी यह मध्यवर्ती होकर भी बही है। पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र में उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक काव्य-प्रयोजन के चिंतन में लगभग यही क्रम दृष्टिगोचर होता है, किंतु उत्तरार्द्ध के प्रारंभ होते-न-होते फ्रांस में कलाकारों और कला-समीक्षकों का एक ऐसा वर्ग उभरकर आया जिसने काव्य का प्रयोजन न तो आनंद को माना और न उपदेश को ही; दोनों की युगपत् सत्ता से भी इन्होंने इनकार किया — इन्होंने बड़े ही प्रबल शब्दों में घोषणा की कि कला अपना उद्देश्य आप है, कला से भिन्न उसका कोई अन्य प्रयोजन नहीं है। बोदलेयर, मलार्मे तथा रेंवू इस दल के नेता थे। इंग्लैंड में कला अथवा काव्य के उद्देश्य के विषय में यही स्वर प्रथम महासमर के आस-पास अनुगुंजित होता है। इसी उद्देश्यहीन काव्य को शुद्ध कविता से अभिहित किया गया है।

टी० एस० इलियट ने अपने निबंध 'द थ्री वॉइसेज़ ऑफ़ पोइट्री' में कविता के तीन भेदों में से एक भेद प्रगीत काव्य को माना है, किंतु उन्होंने इसको 'चिंतनशील कविता' की संज्ञा प्रदान की है। इसी प्रकार की कविता की सर्जना-प्रक्रिया पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि उपदेशात्मक, इतिवृत्तात्मक अथवा सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित कविता से भिन्न प्रकार की कविता में कवि भाषा के सारे उपकरणों को लेकर अपने अंतर्मन में उद्भूत अस्फुट आवेग को पूरी तरह से छंद-रूप में अभिव्यक्त करने में लग जाता है। जब तक वह इसे व्यक्त नहीं कर देता तब तक उसे यह पता ही नहीं चलता कि उसे क्या कहना है; और जिस समय वह इसे अभिव्यक्त करने के प्रयास में लगा होता है उस समय प्रमाता के लिए कुछ भी बुद्धिग्राह्य बनाने से उसका

१. ट्वेंटीएथ सेंचुरी इंग्लिश, संपादक—विलियम एस० निकरबॉकर, पृ० ३४१

संबंध ही नहीं होता। दूसरे शब्दों में, सर्जना के क्षणों में प्रमाता उसकी दृष्टि से पूर्णतः ओझल रहता है। इस स्थिति में दूसरे लोगों से उसका किसी प्रकार का संबंध नहीं रहता; उस समय उसका संबंध केवल उचित शब्दों, अथवा, किसी प्रकार, न्यूनतम दोषपूर्ण शब्दों के अनुसंधान से होता है। उस समय वह यह सोचता ही नहीं कि कोई अन्य व्यक्ति कभी उन शब्दों की ओर ध्यान देगा अथवा कभी उन्हें समझेगा। वह एक ऐसे भार से अपने को आक्रांत पाता है जिससे मुक्ति के लिए उस बोझ को व्यक्त कर देना अपरिहार्य हो जाता है। इलियट ने इस आवेग अथवा भार को दानव कहकर पुकारा है। वे कहते हैं कि कवि इस दानव से निरंतर उपसृष्ट रहता है। यह एक ऐसा दानव है जिसके समक्ष वह अपने को असहाय पाता है; क्योंकि प्रथम प्रत्यक्षीकरण के अवसर पर इस दानव की मुखाकृति, नाम आदि कुछ भी तो नहीं होता; और जिस कविता की वह रचना करता है वह इस दानव के अपसारण का ही एक रूप है। शब्दांतर से, कवि इस सारी यातना का सहन इसलिए नहीं करता कि उसे अपनी बात दूसरे तक संप्रेषित करनी है, वरन् इसलिए करता है कि उसे तीव्र उद्विग्नता से मुक्ति मिल जाय; और जब शब्द अंतिम रूप से उचित क्रम में न्यस्त हो जाते हैं — अथवा जब कवि का मन यह स्वीकार कर लेता है कि वह शब्दों के जिस सर्वोत्तम क्रम की खोज कर सकता था वह उसने कर लिया — तब वह एक विशेष प्रकार की विश्रांति, परितोष, निर्मुक्ति तथा शून्यता के बहुत अधिक समीप के किसी भाव का अनुभव करता है। और तब वह कविता से यह कह सकता है : "जाओ, अपने लिए किसी पुस्तक में स्थान खोजो — और मुझसे यह आशा मत करना कि मैं पुनः तुम्हारे प्रति किसी प्रकार की रुचि प्रदर्शित करूँ।"[1] प्रस्तुत कथन से टी० एस० इलियट का आशय मात्र इतना है कि कवि कविता की रचना किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर नहीं करता, यह रचना तो उसकी विवशता है — अनुभूति-दानव से विनिर्मुक्ति पाने के लिए ही वह सर्जना के इस कार्य में प्रवृत्त होता है।

कविता की शुद्धता की यही गूँज नयी समीक्षा में निनादित हुई है। रैंसम इस शुद्ध कविता के बड़े पक्षपाती हैं। अपने निबंध 'पोइट्स विदाउट लौरेल्स' में उन्होंने शुद्ध कविता उसे माना है जो नैतिक, राजनैतिक अथवा सामाजिक मूल्यों से रहित हो। इस कविता का उद्देश्य मात्र कविता है, नीति-तत्त्व का समावेश इसमें होता ही नहीं।[2] रैंसम उन समीक्षकों से बड़े विक्षुब्ध हैं जो

---

१. ऑन पोइट्री एंड पोइट्स, पृ० ९८

२. द वर्ल्ड्'स बॉडी, पृ० ५९

कविता में किसी उद्देश्य की खोज करते हैं। ऐसे समीक्षकों के प्रति उनकी भर्त्सना इन शब्दों में व्यक्त हुई है — "नीतिवादी समीक्षक स्वयं कविता का नहीं, वरन् कविता की "विचारधारा", विषय अथवा पदान्वय को उससे विलगाकर, इसी विचारधारा का ही विवेचन करना चाहते हैं।"[1] समीक्षक को चेतावनी देते हुए उन्होंने कहा कि साहित्य को किसी भी नैतिक कसौटी पर कसा जा सकता है किंतु समीक्षक को स्मरण रखना चाहिए कि नैतिक अंतर्वस्तु ही संपूर्ण अंतर्वस्तु नहीं है।[2]

कविता की शुद्धता के विषय में केनेथ वर्क की विचारधारा में स्पष्ट वदतोव्याघात दिखायी पड़ता है। एक ओर तो उन्होंने कला की सार्थकता किसी राजनीतिक अथवा सामाजिक सुधार में न मानकर, मानव की एक बुभुक्षा और उसकी तृप्ति में मानी है,[3] दूसरी ओर वे नैतिकता को कलाकृति का अनिवार्य तत्त्व घोषित करते हैं।[4]

कविता की शुद्धता को लेकर नये समीक्षकों में रॉबर्ट पेन वारेन का स्वर बड़ा ही प्रखर है। वे तो डंके की चोट पर कहते हैं कि नैतिकता एक दूषण है जो काव्य को अशुद्ध कर देता है। उन्होंने तो इस विषय को लेकर एक पूरे निबंध की ही रचना कर डाली है जिसे साहित्य-जगत् में 'प्योर एंड इंप्योर पोइट्री' के नाम से जाना जाता है।

ब्रुक्स ने भी काव्य में नैतिकता का जमकर विरोध किया है। कविता के समीक्षक और पाठक को उनका स्पष्ट परामर्श है कि कविता को कविता के रूप में ही पढ़ा जाना चाहिए, किसी सिद्धांत अथवा उपदेश देनेवाले सत्य के रूप में नहीं।[5] अन्यत्र वे लिखते हैं — कविता के अध्ययन में "संदेश के खोज" वाली पद्धति सीधी-सरल कविताओं तक के संबंध में धराशायी हो जाती है।"[6]

टेट मध्यवर्ती मार्ग के अनुयायी हैं। वे नैतिकता को काव्य का मात्र एक तत्त्व स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि जो समीक्षक किसी कृति का नैतिक

---

१. लिटरेरी ओपिनियन इन अमेरिका, खंड २, संपादक—मॉर्टन डोवेन ज़ावेल, पृ० ६४३
२. द वर्ल्ड्'स बॉडी, पृ० ३४५
३. कॉउंटर-स्टेटमेंट, पृ० १६
४. द फिलॉसफी ऑफ़ लिटरेरी फ़ॉर्म, पृ० ३१४
५ चार्ल्स आई० ग्लिकसवर्ग-द्वारा लिखित अमेरिकन लिटरेरी क्रिटिसिज्म के पृ० ५१५ पर उद्धृत
६. अंडरस्टैंडिंग पोइट्री, पृ० १२

मूल्यांकन करता है वह उसका आंशिक मूल्यांकन करता है; पूर्ण मूल्यांकन तो कलाकृति की समग्रता में ही संभव है।[1] वे साहित्य का एक सामाजिक, नैतिक अथवा धार्मिक उद्देश्य मानते तो हैं, किंतु उनका कहना है कि इस उद्देश्य की अभिव्यक्ति होनी कलात्मक ढंग से चाहिए।[2]

नये समीक्षकों में अकेले ईवोर विंटर्स ऐसे हैं जो काव्य में नैतिकता के प्रबल समर्थक हैं। कवि-व्यापार के विषय में अपने मत को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है कि कवि का कार्य नीति के विवेचन का कार्य है। यह कार्य मानवानुभूति का पूर्ण और निश्चित लेखा-जोखा है।[3] उनके लिए कविता का सार नैतिक अनुशासन में निहित है, नैतिक दायित्व से पलायन में नहीं।[4] उन्होंने रैंसम की शुद्धकाव्यविषयक धारणा पर करारा प्रहार करते हुए कहा कि रैंसम जिस शुद्ध कविता का पक्ष-समर्थन करते हैं वह पाठकों को व्यापक रूप से अपनी ओर आकृष्ट करने में सर्वथा असमर्थ है। इसी प्रसंग में उन्होंने उस नयी कविता पर भी चोट की है जो शुद्ध बने रहने का दावा करती है। वे उस प्राचीन कविता के प्रशंसक हैं जिसमें नीति-तत्त्व और सौंदर्य-तत्त्व का उचित संमिश्रण देखने को मिलता है।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अकेले विंटर्स को छोड़कर लगभग सभी नये समीक्षक शुद्ध कविता के पक्षधर हैं, किंतु इन समीक्षकों के द्वारा कविता की शुद्धता के लिए उठायी गयी आवाज़ वहाँ तक तो समझ में आती है जहाँ तक कविता को सस्ते प्रचार का माध्यम बनने से रोका जा सके, इससे आगे यह कहना या मानना ठीक नहीं है कि कविता निरुद्देश्य होती है—वह मानव-जाति को कोई संदेश नहीं देती। आज तक विश्व में जितने भी महान् कवि या लेखक हुए हैं उनकी रचनाएँ मानव को निरंतर कोई-न-कोई संदेश देती चली आयी हैं और देती रहेंगीं। 'रामचरितमानस' का रचनाकार एक बार नहीं, सौ बार भी यह कहे कि वह अपने काव्य का प्रणयन केवल स्वांतःसुखाय कर रहा है, किंतु उसकी रचना को सर्वजनसुखाय

१. जॉन पाल प्रिचर्ड-द्वारा लिखित क्रिटिसिज़्म इन अमेरिका के पृ० २४८ पर उद्धृत
२. वही, पृ०२४६
३. इन डिफ़ेंस ऑफ़ रीज़न, पृ० ५०३
४. चार्ल्स आई० ग्लिक्सबग-द्वारा लिखित अमेरिकन लिटरेरी क्रिटिसिज़्म के पृ० ५३४ पर उद्धृत
५. इन डिफ़ेंस ऑफ़ रीज़न, पृ० ५२७-२८

मानने से कौन इनकार कर सकता है। क्या कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुंतल' स्वैर प्रणय की भूलों का उद्घाटन नहीं करता? क्या शेक्सपियर का 'मैकवेथ' 'बुरे का अंजाम बुरा' के आदर्श से प्रेरित नहीं है? और तो और, स्वयं टी० एस० इलियट की कविता 'द वेस्ट लैंड' एक निश्चित उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ी है। इस विषय में रामधारीसिंह 'दिनकर' का यह मंतव्य द्रष्टव्य है— "इलियट शुद्ध कवित्व के बहुत बड़े पक्षपाती थे, किंतु, उनका 'वेस्ट लैंड', किसी न किसी हद तक, सोद्देश्य काव्य है, गरचे उसका उद्देश्य अत्यंत अप्रत्यक्ष है।"[१] वस्तुतः उद्देश्यविहीन कला कभी उत्कृष्ट नहीं हो सकती। तभी तो सांतायन ने लिखा है—"जिस कला का संबंध अपने विषय से न होकर केवल अपने से ही है उस कला से अधिक निर्धन और विषण्ण अन्य कोई कला नहीं है।"[२] नये समीक्षकों में ईवोर विंटर्स इस तथ्य से अवगत हैं, तभी तो उन्होंने अपने वर्ग के समीक्षकों का विरोध सहकर भी नीतिपूर्ण काव्य की वकालत की है। इलियट को भी विवश होकर अपने निबंध 'रिलीजन एंड लिटरेचर' में यह लिखना पड़ गया है कि "साहित्य की महत्ता का निर्धारण केवल साहित्यिक मानदंडों के आधार पर नहीं हो सकता।" और इसलिए "साहित्यिक आलोचना को निश्चित नीतिपरक और धर्मशास्त्रीय दृष्टि से संपन्न आलोचना के द्वारा पूर्ण बनाना चाहिए।"[३] किसी कविता में नीति और धर्म के तत्त्वों का संधान आलोचक तभी कर सकता है जब ये तत्त्व उसमें पहले से ही विद्यमान हों। प्रकारांतर से इलियट यह कहना चाहते हैं कि प्रत्येक कविता का कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य होता है, निष्प्रयोजन वह हो नहीं सकती। उत्कृष्ट कोटि के काव्य में इस प्रयोजन की खोज हमें 'सद्यःपरनिर्वृति' और 'कांतासम्मित उपदेश' के अद्भुत सामंजस्य में ही करनी होगी। अतः शुद्ध कविता की धारणा सर्वथा असंभव है।

**१०. जीवनानुभूति एवं काव्यानुभूति के अंतर का विवेचन :** नया समीक्षक सामान्यतः यह स्वीकार करके चलता है कि कवि के व्यक्तिगत जीवन की अनुभूति काव्य का विषय नहीं बन सकती — काव्य में व्यक्त की जानेवाली अनुभूति सर्वथा वस्तुनिष्ठ होती है। टी० एस० इलियट का प्रसिद्ध निर्वैयक्तीकरण का सिद्धांत इसी धारणा पर आधारित है। उनकी मान्यता

---

१. शुद्ध कविता की खोज, पृ० १५

२. वान वाइक ब्रुक्स-कृत ओपिनियंस ऑफ़ ओलिवर एल्स्टन के पृ० २३५ पर उद्धृत

३. फ़ाइव एप्रोचेज ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, संपादक—डब्ल्यू० एस० स्कॉट, पृ० ४३

है कि कविता में अभिव्यक्त भावानुभूति, भाव अथवा दृष्टि कवि के मानस में विद्यमान भावानुभूति, भाव अथवा दृष्टि से बहुत-कुछ भिन्न होती है।[1] इसीलिए कहते हैं कि कलाकार को सर्जना के क्षणों में अपने व्यक्तित्व का अनवरत परित्याग करना पड़ता है; क्योंकि उन क्षणों में वह किसी ऐसी वस्तु से तादात्म्य स्थापित करता है जो उसके व्यक्तित्व की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। कलाकार का विकास आत्मोत्सर्ग का, स्वव्यक्तित्व-निषेध का एक सतत प्रयास है।[2]

एक अन्य स्थल पर इलियट लिखते हैं—"जो कलाकार जान-बूझकर अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए प्रयास करता है वह महान् कला को जन्म नहीं दे सकता। उसे किये जानेवाले कार्य पर अपने को समाहित करना पड़ता है और इस समाहिति के द्वारा ही वह अप्रत्यक्षत: अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देता है। उसके द्वारा करणीय कार्य उसी अर्थ में कार्य है जिस अर्थ में कार्यक्षम इंजन अथवा जलपात्र या मेज़ के पाये का निर्माण।"[3] इलियट की इस स्थापना का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार इंजन, जलपात्र अथवा मेज़ के पाये का निर्माता तत्तद्वस्तु का निर्माता-भर है, वह उसका माध्यम मात्र है, वस्तु के निर्मित रूप से उसका व्यक्तित्व नितांत पृथक् है उसी प्रकार कवि कविता का निर्माता-भर है, कविता की परिणति से उसका कोई निजी संबंध नहीं है। दूसरे शब्दों में, कवि को कविता के ऊपर अपने व्यक्तित्व को थोपने का कोई अधिकार नहीं, उसका कार्य तो नि:संग भाव से कविता की रचना-भर कर देना है। उनके अनुसार, "कविता मनोवेग की अभिव्यक्ति नहीं, प्रत्युत मनोवेग से पलायन है।"[4] इतना तो असंदिग्ध है कि मनोवेगों के अभाव में कविता जीवित नहीं रह सकती, किंतु इलियट का मंतव्य है कि कला का भाव निर्वैयक्तिक होता है।[5]

ठीक इलियट की ही भाँति रैंसम का भी कहना है कि मूल पदार्थ से जनित मनोवेग की यथावत् अभिव्यक्ति कला में नहीं होती है;[6] अर्थात्, वास्तविक जीवन के मनोवेग और कला में परिणत मनोवेग में पर्याप्त वैभिन्न्य होता है।

१. द सेक्रेड वुड (१९२८ के संस्करण का भूमिका-भाग), पृ० १०
२. द सेक्रेड वुड, पृ० ५२-५३
३. सेलेक्टेड एसेज़, पृ० ११४
४. द सेक्रेड वुड, पृ० ५८
५. वही, पृ० ५९
६ ईवोर विटर्स-द्वारा लिखित इन डिफ़ेंस ऑफ़ रीज़न के पृ०५२१ पर उद्धृत

एंपसन इस विषय में अपवाद हैं। उनका विचार है कि कविताओं को शुद्ध कला मानकर यह नियम बना देना ठीक न होगा कि कविताओं का मनोवेग से कोई संबंध नहीं है।[1]

सारांश यह है कि नया समीक्षक काव्य में निर्वैयक्तिकता का समर्थक है, किंतु कवि का व्यक्तित्व उसकी कृति में प्रतिफलित न हो, यह संभव नहीं है। रचना है तो अंततोगत्वा रचनाकार की ही मानसी सृष्टि, फिर उसमें उसका व्यक्तित्व न झाँके, यह कैसे हो सकता है? सर्जक कलाकार की बलवती भाव-धारा जब उद्दाम वेग के साथ प्रवाहित होने लगती है तब वह किसी सिद्धांत के बंधन को स्वीकार नहीं करती है। जब कवि के अंतःस्फुरित अभिधेय वाणी के माध्यम से आकार ग्रहण करने लगते हैं तब उसकी कृति में व्यक्तित्व का निक्षेप अनायास ही हो जाता है—प्रगीत काव्य का तो मूलाधार ही स्वानुभूति है। आज तक विश्व में जितने भी महान् साहित्यकार हुए हैं उनकी कृतियों में उनके व्यक्तित्व का अनिवार्यतः प्रतिफलन हुआ है। यह एक अलग बात है कि उनका यह व्यक्तित्व उनकी रचनाओं पर थोपा गया नहीं जान पड़ता। संभवतः यह कथन अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि महान् सर्जक कलाकार का व्यक्तित्व ही उसकी कृति में प्राणों का स्पंदन भरता है।

११. **ऐतिहासिक समीक्षा का विरोध :** अब तक यह तो स्पष्ट हो ही चुका है कि जहाँ ऐतिहासिक समीक्षक किसी साहित्यिक कृति का अध्ययन कृतिकार की मनःस्थिति, विचारधारा तथा उसके साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि परिवेशों में करते हैं वहाँ नया समीक्षक कवि और उसके परिवेश को ताक पर रखकर मात्र कृति के ही विवेचन में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार दोनों की आलोचना-प्रक्रिया में आत्यंतिक विरोध है। टी० एस० इलियट का भी विचार है—"लोग 'नयी समीक्षा' शब्द का प्रयोग प्रायः यह समझे बिना करते हैं कि इस शब्द में कितनी विविधता का समावेश है, किंतु, मैं समझता हूँ, इस शब्द का प्रचलन इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि इस युग के अधिक प्रतिष्ठित आलोचकों में परस्पर कितना ही व्यापक अंतर क्यों न हो, वे सब-के-सब अपने से पहले की पीढ़ी के आलोचकों से किसी-न-किसी महत्त्वपूर्ण बात में भिन्न हैं।"[2]

---

१. द केन्यन क्रिटिक्स, संपादक—जॉन क्रो रैंसम, पृ० १२८

२. ऑन पोइट्री एंड पोइट्स, पृ० १०३-१०४

रैंसम ने ऐतिहासिक समीक्षा को बड़े ही आड़े हाथों लिया है। डॉ० राजकुमार कोहली ने उनके मत को उद्धृत करते हुए लिखा है — "चाहे जो व्यक्ति उत्तम साहित्य-समीक्षा नहीं कर सकता और सामान्य ऐतिहासिक अनुशीलन में जीवन बिता देनेवाले इतिहास के किसी पंडित से सत्समीक्षा की आशा तो सर्वथा निरर्थक है।"[१] ऐतिहासिक अध्ययन को रैंसम ने आलोचना का उपादान तक तो स्वीकार कर लिया है, किंतु उसे साहित्य-समीक्षा मानने से साफ़ इनकार कर दिया है — "जीवनचरितात्मक, आत्मकथात्मक और ग्रंथ-संदर्भात्मक सामग्री तथा तुलनात्मक अध्ययन समीक्षात्मक विश्लेषण-प्रक्रिया में प्रेरक तथा सहायक तो सिद्ध होते हैं किंतु उन्हें पृथक् रूप में या समग्रत: समीक्षा नहीं माना जा सकता। तुलनात्मक अध्ययन साहित्य-समीक्षा की अपेक्षा तुलनात्मक साहित्यिक अनुशीलन के क्षेत्र में ही आता है।"[२]

क्लिअंथ ब्रुक्स के भी इस कथन में ऐतिहासिक आलोचना के विरुद्ध उनका आक्रोश ध्वनित होता है — "मैं समझता हूँ कि जब कुछ साल पहले जॉन क्रो रैंसम ने 'नयी आलोचना' नाम को चुना था, तो उनका अभिप्राय एक तटस्थ और सीधी-सरल संज्ञा प्रदान करना था अर्थात् आधुनिक आलोचना, समसामयिक आलोचना। इस अभिप्राय के बावजूद, इस संज्ञा का चुनाव बहुत सुखद नहीं रहा। इससे आलोचना की सापेक्ष नवीनता पर, संभवत: कुछ दंभ के साथ, अतिरिक्त बल दिखाई पड़ा और बहुत से लोकप्रिय समीक्षकों और प्रोफ़ेसरों ने उसमें एक खतरनाक नवीनता का आभास पाने में बड़ी तेज़ी दिखायी है। अँग्रेज़ी का ठेठ प्रोफ़ेसर प्रकृति से और प्रवृत्ति से परिवर्तन के विरुद्ध होता है, लोकप्रिय समीक्षक भी जहाँ तक उसके आलोचनात्मक सिद्धांतों का प्रश्न है इस माने में किसी भी तरह कम नहीं है। निष्कर्ष यह है कि इन दोनों का स्वार्थ साहित्य की ऐसी चर्चा में निहित है जो अधिक अनियत और कम श्रमसाध्य हो।"[३]

कहने का आशय यह है कि यों तो विभिन्न समीक्षा-पद्धतियों में परस्पर कुछ-न-कुछ अंतर होता ही है तथापि नयी समीक्षा का जितना अधिक विरोध ऐतिहासिक आलोचना से है उतना अन्य किसी भी समीक्षा-पद्धति से नहीं। इसका मुख्य कारण संभवत: यह रहा है कि नये समीक्षक ने ऐतिहासिक आलोचना को सर्वातिशायी समीक्षा-पद्धति के रूप में देखा है, और जब तक

---

१. समन्विति, वर्ष १, अंक १ (अगस्त ७३—जनवरी ७४), पृ० ६०

२. द वर्ल्ड्'स बॉडी. पृ० ३४४

३. नयी समीक्षा के प्रतिमान, संपादक—डॉ० निर्मला जैन, पृ० २३

वह इससे न निपट ले, अपने को प्रतिष्ठित कैसे कर सकेगा। इसलिए उसका विरोध मुख्यत: विश्वविद्यालयीय प्रोफ़ेसर से रहा है; क्योंकि वह समझता है कि विश्वविद्यालय ही ऐतिहासिक आलोचना के प्रमुख गढ़ हैं। वाल्टर ब्लेअर, थ्योडॉर हॉर्नबर्गर, जेम्स ई० मिलर जूनियर तथा रैंडल स्टेवार्ट ने तो अपने लेख 'यू० एस० ए० बिटवीन वर्ल्ड वार्स १९१४-१९४५' में बड़े ही साफ़ शब्दों में लिखा है — "नयी समीक्षा, अपने आरंभ में, मूलत: उस ऐतिहासिक दृष्टि-कोण के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी जिस पर प्रोफ़ेसरों और स्नातकीय विद्यालयों के द्वारा बल दिया जा रहा था।"[1]

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि नव्यालोचक का ऐतिहासिक आलोचना से विरोध मूलत: दो स्तरों पर है — एक तो कवि की जीवनी और उसके परिवेश का विरोध, और दूसरे विश्वविद्यालयीय आलोचना का विरोध। इन दो स्तरों के अतिरिक्त एक तीसरा स्तर भी है जहाँ पर नया समीक्षक ऐतिहासिक आलोचना का विरोध करता हुआ दिखायी देता है; यह स्तर है, प्राचीन मान्य सिद्धांतों के विरोध में नूतन काव्य-सिद्धांतों की उद्भावना का। इन विरोध-स्तरों के औचित्य-अनौचित्य के परीक्षण के लिए प्रत्येक स्तर पर अलग-अलग विचार कर लेना अनिवार्य हो जाता है।

यह ठीक है कि ऐतिहासिक आलोचना का घोर व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण स्वस्थ आलोचना का लक्षण नहीं है — कवि के जीवन की प्रत्येक छोटी-मोटी घटना को उसकी रचना में ढूँढ़ना असंगत होगा, किंतु नयी समीक्षा भी एक अतिवाद का विरोध करने के चक्कर में दूसरे अतिवाद के दलदल में जाकर फँस गयी — वह कृति की छान-बीन में ही अपनी इतिकृत्यता मान बैठी है और कृतिकार की ओर उसने आँख उठाकर भी नहीं देखा, जैसे कृतिकार से कृति का कोई नाता ही न हो। कृति और कृतिकार के बीच भी एक निश्चित कार्य-कारण-संबंध है। इस कार्य-कारण-शृंखला पर विचार किये बिना किसी सही परिणाम पर नहीं पहुँचा जा सकता। कवि के जीवन के संघर्ष, उसकी रचनाकालीन मन:स्थितियाँ, उसका जीवन-दर्शन, उसका सौंदर्य-बोध और साथ ही युगीन सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियाँ, अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, उसकी रचना में समवेत भाव से अनिवार्यत: प्रतिफलित होती हैं। सामान्य कवि इन सारे तत्त्वों का वमन कर देते हैं जबकि महान् कवि की कृति में इनका प्रतिफलन रच-पचकर बड़े ही कलात्मक रूप से होता है। अत: कृति को समग्रत: आत्मसात् करने और उसे

---

१. अमेरिकन लिटरेचर : ए ब्रीफ़ हिस्ट्री, पृ० २२६

विश्लेपित करने के लिए उक्त सारे तत्वों का अध्ययन नितांत आवश्यक है। सारांश यह है कि समीक्षा में कृति और कृतिकार, दोनों पर उचित बल दिया जाना चाहिए। इस विषय में लेखक को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह मंतव्य सर्वथा समीचीन जान पड़ता है—"किसी रचना का आनंद पाने के लिए रचयिता के साथ हमारा घनिष्ठ परिचय और सहानुभूति मनुष्यता के नाते भी आवश्यक है। हमें आलोचक होने के पहले आलोच्य ग्रंथकार का विश्वासपरायण मित्र होना चाहिए। तभी हम उसके वक्तव्य के उचित श्रोता हो सकेंगे।"[1]

विश्वविद्यालयीय आलोचना के विरोध के पीछे चिंतनपरक फ़ैशन की दुनियाँ में उतर पड़नेवाली मानसिकता ही काम करती जान पड़ रही है, अन्यथा जितना गंभीर अध्ययन, मनन और विश्लेषण विश्वविद्यालय के अध्यापक-आलोचक का होता है उतना इतर समीक्षक का प्रायः नहीं होता। आलोचना का कार्य सर्जन की अपेक्षा कहीं अधिक दुष्कर है—सर्जक तो अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति देकर मुक्ति पा लेता है, किंतु आलोचक को पहले तो सर्जक के अनुभूति-जगत् में प्रवेश करना होता है और फिर अपने विवेक के बल पर रचना का विश्लेषण करना होता है। आलोचना कॉफ़ी-घरों की टेबिल पर कॉफ़ी के प्यालों की खड़खड़ाहट और सस्ते शोर-शराबे के वातावरण के बीच नहीं लिखी जाती, इस कार्य को संपन्न करने के लिए अध्ययन-कक्ष के एकांत-वास का सेवन बड़ी लंबी अवधि तक आवश्यक होता है। हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि विश्वविद्यालय का प्रत्येक प्राध्यापक आलोचक बनने के लिए इतनी गहन साधना करता है। ऐसा बहुत ही कम लोग करते हैं और जो करते हैं वास्तव में वे ही आलोचक की संज्ञा के अधिकारी हैं। यह बड़ी विचित्र बात है कि जिन नये समीक्षकों ने विश्वविद्यालयीय आलोचना का विरोध किया है उनमें से अधिसंख्य विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक रहे हैं। रैंसम ने केन्यन, टेट ने मिनेसोटा, वारेन एवं ब्रुक्स ने येल तथा ब्लैकमर ने प्रिंसटन विश्वविद्यालयों में प्राध्यापन का कार्य किया है। फिर यह कथन उचित नहीं जान पड़ता कि विश्वविद्यालयीय प्रोफ़ेसर की 'साहित्य-चर्चा अधिक अनियत और कम श्रमसाध्य' है।

---

१. साप्ताहिक हिंदुस्तान (१७ से २३ जून, १९७९) के पृ० ४५ पर उद्धृत

मान्य सिद्धांतों के विरोध-स्वरूप नये काव्य-प्रतिमानों की स्थापना में नये समीक्षकों की अपनी-अपनी दृष्टि रही है। वे काव्य को जिस तत्त्व के सहारे विमर्शित करना चाहते हैं उन्हे प्राचीन समीक्षा में उसका अभाव-सा खटका है। उनकी दृष्टि में पूर्ण सत्य की समाहिति भले ही न हो, किंतु आंशिक सत्य अवश्य है; क्योंकि जिन विभिन्न तत्त्वों के बल पर उन्होंने साहित्य-समीक्षा को आगे बढ़ाने की बात कही है वे साहित्य का अपरिहार्य अंग हैं।

४

# समानांतर समीक्षा-पद्धतियाँ

नयी समीक्षा के अतिरिक्त, कृति को केंद्र में रखकर उसका विश्लेषण करनेवाली कतिपय अन्य समीक्षा-पद्धतियों का भी विकास पश्चिम में हुआ है। इनमें दो अत्यंत प्रमुख हैं — शिकागो समीक्षा तथा शैलीविज्ञान। कुछ बिंदुओं पर तो आलोचना की ये विभिन्न प्रणालियाँ एक-दूसरे के इतने निकट आ जाती हैं कि इनके बीच व्यावर्तक रेखाएँ विलुप्त होती-सी जान पड़ती हैं। ऐसी स्थिति में, नव्यालोचन की अचूक समझ के लिए, उक्त दोनों समीक्षा-पद्धतियों का स्वरूप-विवेचन और नयी समीक्षा के साथ इन दोनों के साम्य-वैषम्य का निरूपण अप्रतिवार्य हो जाता है। विस्तार-भय से यह समग्र आख्यान यथासंभव संक्षिप्त और सीमित रखा जायेगा।

## शिकागो समीक्षा (समीक्षक)

शिकागो विश्वविद्यालय से संबद्ध कुछ समीक्षकों ने आलोचना की एक विशिष्ट पद्धति को जन्म दिया है। इन्हीं समीक्षकों को समालोचना-जगत् में शिकागो समीक्षकों के नाम से जाना जाता है। रिचर्ड मैकिअन तथा आर० एस० क्रेन इस समीक्षक-वर्ग के नेता हैं। वर्ग के अन्य प्रमुख सदस्य हैं — एल्डर ऑल्सन, नॉर्मन मैकलीन, डब्ल्यू० आर० कीस्ट, बर्नार्ड वाइनवर्ग तथा वेन सी० बूथ। इन्होंने मिलकर, क्रेन के संपादकत्व में १६५२ ई० में एक आलोचना-ग्रंथ का प्रकाशन किया जिसका नाम है, 'क्रिटिक्स एंड क्रिटिसिज़्म : ऐंशिएंट एंड मॉडर्न'। यही ग्रंथ, एक प्रकार से, इन समीक्षकों की मान्यताओं का घोषणा-पत्र है। इनकी आलोचना में वैदुष्य का गहरा पुट है। अरस्तू की आलोचना-पद्धति (सिद्धांतों का नहीं) अनुसरण करने के कारण इन समीक्षकों को "नवअरस्तूवादी" की भी संज्ञा प्रदान की गयी है। ये समीक्षक साहित्यिक कृति का विश्लेषण किसी पूर्वनिर्धारित सिद्धांत के आधार पर नहीं करते, वरन् कृति के आधार पर ही अपने सिद्धांत का निष्कर्षण कर उसी के आलोक में कृति को निरखते-परखते हैं। कृतियों की विभेदी प्रकृति के कारण प्रत्येक कृति

के विवेचन में इनका सिद्धांत बदल जाता है, और, इस प्रकार, इनके सिद्धांतों की कोई इयत्ता नहीं है। यही कारण है कि इनका एक अन्य अभिधान "बहुलवादी समीक्षक" भी है। इनके इस बहुलवाद को रिचर्ड मैकिअन के निबंध 'द फिलॉसॉफिक बेसेज़ ऑफ़ आर्ट एंड क्रिटिसिज़्म', एल्डर ऑल्सन के निबंध 'ऐन ऑउटलाइन ऑफ़ पोइटिक थ्योरी', तथा आर० एस० क्रेन की पुस्तक 'द लैंग्वेज ऑफ़ क्रिटिसिज़्म एंड द स्ट्रक्चर ऑफ़ पोइट्री' के अध्ययन के द्वारा भली प्रकार समझा जा सकता है।

शिकागो समीक्षा भी, नयी समीक्षा की ही भाँति, ऐतिहासिक आलोचना के विरुद्ध प्रतिक्रिया, और मूल पाठ पर ध्यान के केंद्रीकरण के फलस्वरूप अस्तित्व में आयी है। डॉ० राजनाथ ने इन दोनों ही समीक्षा-प्रणालियों के विकास के कारण पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि एक साहित्य-समीक्षक की मूलभूत चिंता साहित्य है; मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, जीवनी, नीति-शास्त्र या ऐसा ही कोई अन्य विषय नहीं। और जब समीक्षक का ध्यान साहित्य में साहित्येतर विषयों पर केंद्रित हो जाता है तो उसे समालोचक नाम देना ही ग़लत होगा। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि कोई आलोचक तब तक इस नाम का पात्र नहीं हो सकता जब तक कि वह पूरी सावधानी के साथ साहित्येतर सामग्री को निकाल बाहर नहीं कर देता। वस्तुतः मूल पाठ को अपना आधार बनाकर उस पर दृढ़ता से अवस्थित हो जाने के उपरांत वह मूल पाठ से इतर विषयों की ओर भी उन्मुख हो सकता है, बशर्ते कि वह यह समझे कि विवेच्य कृति के उपयुक्त विवेचन के लिए ऐसी यात्रा आवश्यक है। किंतु दुर्भाग्य से अधिकांश बहिरंग आलोचकों ने ऐसा नहीं किया और इसीलिए उन्हें वास्तविक अर्थ में साहित्य-समीक्षक की संज्ञा देना कठिन होगा! आंतरिक आलोचना उन आलोचकों की मूलभूत चिंता है जो अपनी चर्चा को, पूरी दृढ़ता के साथ अथवा कुछ छूट देकर, स्वयं मूल पाठ पर केंद्रित करते हैं। यह परंपरा टी० ई० ह्यूम से आरंभ हुई और इलियट तथा रिचर्ड्स से गुज़रती हुई नये तथा शिकागो-वर्ग के समीक्षकों में सर्वाधिक प्रभावकारी रूप से अभिव्यक्त हुई।"[१] आर० एस० क्रेन ने ऐतिहासिक आलोचना का बड़ी दृढ़ता से प्रत्याख्यान किया है—"जब हम कविताओं या उपन्यासों को व्यक्ति-वृत्त मानकर चलते हैं और उनमें कला के स्थान पर उनके लेखकों के व्यक्तित्व को खोजने का प्रयास करते हैं तब वह आलोचना नहीं, वरन् मनोविज्ञान होता है। जब हम कल्पनाप्रवण

१. एसेज़ इन क्रिटिसिज़्म, पृ० ७९

लेखों को इस अभिप्राय से पढ़ते हैं कि जिस युग में उनकी सर्जना हुई है उसके आचार-विचार, चिंतन-पद्धति, अथवा 'मूल चेतना' के विषय में वे हमें क्या बता सकते हैं तब वह आलोचना नहीं, वरन् इतिहास अथवा समाज-शास्त्र होता है। जब हम उनका उपयोग मूलतः अपनी जीवनानुभूति को व्यापक और समृद्ध बनाने, अथवा नैतिक आदर्शों को प्रचारित करने के साधन के रूप में करते हैं तब वह आलोचना नहीं, वरन् नैतिक संस्कृति होती है। जब हम उनके विषय में अपनी वैयक्तिक रुचियों अथवा अपनी आत्मा के परिभ्रमण का आख्यान कर संतोष कर लेते हैं तब वह आलोचना नहीं, वरन् आत्मकथा होती है। जिसे हम आलोचना के रूप में जानते-समझते हैं, वह इनमें से कुछ भी नहीं है; आलोचना तो साहित्यिक कृतियों का कलाकृतियों के रूप में एक ऐसा सुसंबद्ध विवेचन है जो एक साथ ही विश्लेषणात्मक और मूल्यांकनपरक होता है।"[1]

इसमें संदेह नहीं कि क्रेन के उपर्युक्त मंतव्य में केवल उनका ही नहीं, वरन् समस्त शिकागो समीक्षकों का ऐतिहासिक आलोचना के प्रति विद्रोही स्वर मुखरित हुआ है तथापि इनका प्रखरतम विरोध नयी समीक्षा से है। नये समीक्षक की आलोचना-प्रक्रिया में कविता की भाषा का मूर्धन्य स्थान है। भाषा के प्रति उसके इसी प्रबल आग्रह के कारण शिकागो समीक्षक ने उसे ललकारा है। शिकागो समीक्षा में बल कृति की विषय-वस्तु, वस्तु-विन्यास, चरित्र एवं विचार पर है; भाषा का स्थान यहाँ बहुत नीचा है — शिकागो समीक्षक भाषा को साहित्यिक कृति का उपादान कारण मात्र मानते हैं। यों तो शिकागो समीक्षक किसी साहित्यिक कृति की सार्थकता उसकी समग्रता में ही स्वीकार करते हैं तथापि वस्तु-विन्यास अथवा रूप-विधान उनकी आलोचना-पद्धति का मूल तत्त्व है। रूप-विधान और विषय-वस्तु में कार्य-कारण-संबंध के रहते हुए भी रूप का ही महत्त्व अधिक है; क्योंकि रचना में वस्तु को आकार प्रदान करनेवाला रूप ही है और यही रचना का अंतिम लक्ष्य है। एल्डर ऑल्सन ने आरी, कुर्सी और घर-जैसे अनेक उपकरणों के माध्यम से यह समझाया है कि कृति में रूप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और भाषा सबसे कम महत्त्वपूर्ण। उनका मंतव्य है कि भाषा विचार का, या रूप के संदर्भ में जो कुछ कहना है उसका, उपादान है। कविता में शब्दों की वही स्थिति है जो मकान में ईंटों की, और नये समीक्षक "ईंटों के स्वरूप और वज़न से मकान के अभिकल्प (डिज़ाइन) का" अनुमान लगाने के कारण ग़लत निष्कर्ष निकालते हैं। ईंटें

---

१. द आइडिया ऑफ़ द ह्यूमेनिटीज़ एंड आँदर एसेज़, क्रिटिकल एंड हिस्टॉरिकल, पृ० १२

मकान के डिज़ाइन का निर्धारण नहीं करतीं; न धातु आरी के डिज़ाइन को अथवा लकड़ी कुर्सी के डिज़ाइन को निर्धारित करती है। आरी का उदाहरण लीजिये। इसका अस्तित्व इसलिए है कि इसका कुछ-न-कुछ कार्य है — जैसे चीरना; और यह अस्तित्व उस धातु के कारण नहीं है जिससे इसका निर्माण हुआ है। धातु का आरी के रूप में निर्माण उस कार्य-द्वारा निर्देशित है जिसे इस आरी को पूरा करना होता है। यह चौथा तत्त्व अर्थात् चीरना भावात्मक रूप अथवा कार्य बन जाता है जो शब्दों का संचालन करता है और साथ ही वस्तु का निर्माण करनेवाले अन्य घटकों का भी। लगभग यही मत क्रेन का भी है जब वे रूप को सर्वाधिक और भाषा को सबसे कम महत्त्व देते हैं।[1] अतः स्पष्ट है कि शिकागो समीक्षकों का नयी समीक्षा से ज़ोरदार विरोध है।

शिकागो समीक्षा के उद्भव के कारणों पर विचार कर लेने के उपरांत उसके स्वरूप का विवेचन अनिवार्य हो उठता है। इस समीक्षा-पद्धति के अनुयायी यह मानकर चलते हैं कि आलोचना का उद्देश्य किसी नूतन किंवा विचित्र समीक्षा-पद्धति का विकास नहीं है, प्रत्युत वह तो उन्हीं साहित्य-सिद्धांतों का परीक्षण एवं मूल्यांकन करती है जो साहित्य की मीमांसा और गुण-दोष-विवेचन के लिए या तो पहले से ही प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं या आजकल प्रयुक्त हो रहे हैं। इस प्रकार उनका कार्य आलोचना की आलोचना है। एल्डर ऑल्सन तथा उनके सहयोगियों का विरोध उस समीक्षक से है जो यह मानकर चलता है कि केवल उसकी पद्धति ही सही है। क्रेन के द्वारा अपने निबंध 'द क्रिटिकल मोनिज़्म ऑफ़ क्लिअंथ ब्रुक्स' में क्लिअंथ ब्रुक्स पर किया गया प्रहार आलोचना की एकलवादी पद्धति पर किया गया प्रहार है, जो क्रेन के बहुलवादी दृष्टिकोण का परिचायक है।

इस वर्ग के समीक्षक आलोचना को बौद्धिक संलाप (रीज़ंड डिस्कोर्स) स्वीकार करते हैं; इसीलिए साहित्य के प्रति उनकी दृष्टि मूलतः अरस्तू की अनुवर्तिनी है। उनकी आलोचना-पद्धति आगमनात्मक है — वे विवेच्य विषय की संरचना पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं। सर्वप्रथम उनकी दृष्टि कविता की आंतरिक प्रकृति पर जाती है। तदुपरांत वे यह संधान करने का प्रयास करते हैं कि रचनाकार उसकी समग्रता के निर्वाह में कहाँ तक सफल हो सका है। इस प्रकार, रचना की निरख-परख वे उसके आंतरिक गुणों के आधार पर ही करते हैं। उनके विश्लेषण का आरंभ रचना के किसी ऐसे तत्त्व से होता है जो संपूर्ण रचना के विन्यास का सिद्धांत-सूत्र बन जाता है। वे पहले

---

१. द लैंग्वेज ऑफ़ क्रिटिसिज़्म एंड द स्ट्रक्चर ऑफ़ पोइट्री, पृ० १५४

किसी रचना को पढ़ते हैं और उसके पश्चात् उनके मानस पर जो प्रभाव पड़ता है उसी के सहारे वे उन सूत्रों की खोज करते हैं जिनमें वह प्रभाव निहित है और जो सारी रचना को एक इकाई के रूप में परिणत कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, क्रेन के द्वारा फ़ील्डिंग के उपन्यास 'टॉम जोंस' का विवेचन उस संहित प्रभाव — अर्थात्, 'हास्यमय आनंद' (कॉमिक प्लेज़र) — के आधार पर किया गया है जो उपन्यास को पढ़ने के बाद उनके मन पर पड़ा है। इस प्रकार 'टॉम जोंस' के विवेचन में 'हास्यमय आनंद' सिद्धांत का कार्य कर रहा है। जॉन होलोवे ने शिकागो समीक्षकों की आलोचना-प्रक्रिया को उद्घाटित करते हुए लिखा है — "किसी भी रचना के अध्ययन की उपयुक्त प्रविधि यह है कि पाठक प्रथम पृष्ठ से पठन का कार्य आरंभ करे और आगे के हर पृष्ठ का अध्ययन करता हुआ रचना के अंत तक पहुँचे। हर महत्त्वपूर्ण रचना के पठन के साथ पाठक या समीक्षक को व्यक्तिगत अनुभूति होगी। इस अनुभूति में उसकी अभिव्यक्ति, सहानुभूति, उत्तेजना, शांति और अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं की शृंखला ग्रथित होगी। ये सभी स्थितियाँ कृति के पठन की स्थिति में समीक्षक की अनुभूति का विषय अवश्य बनेंगीं। इससे पहले पाठक भी उनका भोक्ता होगा, पर उनके समन्वित हो जाने के पश्चात् उसे एक निश्चित व्यंजना ही नहीं प्राप्त होगी, बल्कि उसे एक विशिष्ट तरह का आनंद भी उपलब्ध होगा।"[१] डॉ० राजनाथ ने भी इन समीक्षकों की समीक्षा-पद्धति के विषय में कुछ इसी प्रकार के शब्द कहे हैं — "आलोचक को एक प्रकार से लेखक की समस्या का पुनर्निर्माण करना होता है। उसे देखना होता है कि कथ्य के निरूपण में लेखक को किन-किन समस्याओं का सामना करना पड़ा और उन समस्याओं का समाधान उसने किस प्रकार किया ताकि रचना के उस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके जिसे लेखक ने अपने सामने रखा था। और, इस रूप में किसी रचना के समीप पहुँचने में आलोचक को लेखक की कार्य-पद्धति पर चलना होता है बजाय इसके कि वह अपनी पद्धति को लेखक पर आरोपित करे। आलोचक को किसी रचना में जो भी खोजना होता है उसका ज्ञान उसे पहले से नहीं होता, वरन् उस तत्त्व का अन्वेषण उस रचना में ही करना होता है।"[२] शिकागो समीक्षकों के अनुसार एक कविता केवल कविता है, कविता के अतिरिक्त वह अन्य कुछ नहीं। इस प्रकार की

---

१ डॉ० शिवकरणसिंह-द्वारा लिखित आलोचना के आधुनिक वाद और नयी समीक्षा के पृ० १५२ पर उद्धृत

२. एसेज़ इन क्रिटिसिज़्म, पृ० ९१

आलोचना में उन्हें जो दोष दिखायी पड़ते हैं उनका भी उद्घाटन वे बड़े जागरूक भाव से करते हैं।

इन समीक्षकों की उपर्युक्त आलोचना-पद्धति निश्चय ही अरस्तू के समीप पड़ती है तथापि "नवअरस्तूवादी" होने का जो लेवल उन पर चिपका दिया गया है उसे वे स्वेच्छापूर्वक स्वीकार नहीं करते हैं। कारण यह कि इस लेबल से जो ध्वनि निकलती है उसका वे अनुमोदन नहीं करते। विशेष रूप से वे पहले के उन अरस्तूवादियों का विरोध करते हैं जो अरस्तू के त्रासदीविषयक सिद्धांतों को साहित्य की सभी विधाओं पर लागू करते हैं। उदाहरणार्थ, उनके मतानुसार प्रगीत काव्य में त्रासदी की कथावस्तु के गुणों के सदृश गुणों की खोज करना ग़लत होगा। प्रत्येक साहित्य-विधा के अपने रचना-सिद्धांत होते हैं और कविताओं को पूर्णता तभी प्राप्त होती है जब वे अपनी विधा के सिद्धांतों के अनुरूप रची जाती हैं। वे अपनी आलोचना में अरस्तूवादी पद्धति को तो अंगीकार करते हैं, किंतु तोड़े-मरोड़े गये अरस्तूवादी सिद्धांतों को नहीं।

नूतन समीक्षा-सिद्धांतों की उद्भावना करने की अपेक्षा शिकागो समीक्षक साहित्य की विभिन्न प्रचलित समीक्षा-प्रविधियों के उपयोग पर ही बल देते हैं। इस विषय में एल्डर ऑल्सन के शब्द बड़े ही स्पष्ट हैं—"समसामयिक सिद्धांतनिरूपकों के लिए, समालोचना के निरंतर नूतन आधार का संधान करने की अपेक्षा, यह कहीं अधिक श्रेयस्कर होगा कि वे साहित्य के क्षेत्र में पहले से ही व्यवहृत समीक्षा-प्रविधियों के आधारों का परीक्षण करें तथा उस ज्ञान से लाभान्वित हों।"[१] इन समीक्षकों का उद्देश्य कलाकृति को समझना होता है, अतः वे उन्हीं सिद्धांतों को व्यवहार में लाते हैं जिन्हें वे कृति की व्याख्या के लिए आवश्यक समझते हैं, फिर वे सिद्धांत कहीं से भी ग्रहण किये गये क्यों न हों। क्रेन की मान्यता है कि समीक्षा-सिद्धांत कोई सांप्रदायिक सत्य अथवा ऐतिहासिक दृष्टि से अपरिहार्य रूढ़ सिद्धांत तो हैं नहीं; वे तो अन्वेषण और विश्लेषण के सामान्य उपादान हैं, अतः उनके प्रयोग में जकड़बंदी ठीक नहीं है।

वस्तुतः शिकागो समीक्षकों का उद्देश्य साहित्य की समझ के लिए सारे व्यावहारिक मार्गों की खोज करना है इसीलिए वे प्राचीन और नूतन, सभी मार्गों के अनुयायी हैं और इसी कारण वे साहित्य-परंपरा का अध्ययन करते हैं। 'क्रिटिक्स एंड क्रिटिसिज़्म : ऐंशिएंट एंड मॉडर्न' के तीन उपखंडों में से प्रथम उपखंड के पाँच निबंधों में साहित्य के प्रति समसामयिक दृष्टिकोणों का अध्ययन

---

१. क्रिटिक्स एंड क्रिटिसिज़्म : एसेज़ इन मेथड, संपादक—आर० एस० क्रेन, पृ० ९

है, द्वितीय उपखंड आभिजात्यवाद के और तृतीय उपखंड पुनर्जागरण-काल के विभिन्न साहित्य-सिद्धांतों और आलोचना-दर्शन के नियमों का विवरण प्रस्तुत करता है। द्वितीय और तृतीय उपखंडों के कतिपय निबंधों ने तो आलोचनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में युगांतरकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया है। ये निबंध हैं — रिचर्ड मैकिअन-लिखित 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म एंड द कॉन्सेप्ट ऑफ़ इमिटेशन इन ऐंटिक्विटी', तथा एल्डर ऑल्सन-लिखित 'ऐन ऑउटलाइन ऑफ़ पोइटिक थ्योरी' और 'सेलिंग टु बाइज़ेंटिअम : प्रोलेगोमेना टु ए पोइटिक्स ऑफ़ द लिरिक'।

शिकागो समीक्षकों को परंपरा से लगाव अवश्य है, किंतु वे उसका अंधानुनुकरण करने के पक्ष में नहीं हैं — वे साहित्य के विवेचन में पुराने प्रतिमानों का व्यवहार तो करते हैं, किंतु आवश्यकता पड़ने पर उन्हें संशोधित भी करते हैं। साधन और साध्य के बीच व्यावर्तन में वे निःसंदेह अरस्तूवादी हैं—उनके मतानुसार विभिन्न प्रतिमान कलाकृति को प्रकाशित करने के केवल साधन हैं। आभिजात्यवादी तथा पुनर्जागरणयुगीन साहित्य-सिद्धांतों के अन्वेषण में उन्होंने अपने को मान्य आचार्यों के प्रति उस अतिशय निष्ठा-भावना से मुक्त रखा है जो साहित्य के स्वच्छंद अध्ययन में आड़े आती है। साहित्य के प्रति नवीन दृष्टिकोणों में भी उनकी वैसी ही रुचि है जैसी प्राचीन दृष्टिकोणों में।

शिकागो समीक्षकों का मूल्यांकन करते हुए रेने वेलेक ने कहा है कि यद्यपि इन्होंने विरोधाभासों, प्रतीकों, अनेकार्थताओं और मिथकों के पीछे भागनेवालों पर चोट करके अपने पक्ष को कुछ सबल बनाया है, तथापि न तो आर० एस० क्रेन और न एल्डर ऑल्सन ही नायकों के प्रकारों, वस्तु-विन्यास तथा विधाओं के पिष्टपेषित वर्गीकरणों से परे जाकर किन्हीं निर्विकल्प समाधानों को प्रस्तुत कर सके हैं। सौंदर्यपरक मूल्यों के प्रति उनकी असंवेदनशीलता को उनके वैदुष्य के कवच ने छिपा लिया है। यह समीक्षा-पद्धति एक अति-शास्त्रीय प्रक्रिया है जिसकी नियति में आरंभ में ही समाप्त हो जाना लिखा है।[1]

विवेच्य समीक्षा-पद्धति की नियति के विषय में वेलेक चाहे कुछ भी कहें किंतु इतना असंदिग्ध है कि शिकागो समीक्षक एक ऐसी शक्ति के रूप में उभरे हैं जिसने साहित्य-मनीषियों का ध्यान बरबस अपनी ओर आकृष्ट किया है।

**नव्यालोचन एवं शिकागो समीक्षा (समीक्षक) :**

**साम्य**—१. नव्यालोचक और शिकागो समीक्षक, दोनों ही अपनी आलोचना का केंद्र कृति को बनाते हैं। उनकी दृष्टि में कृतिकार एकदम नगण्य है;

1. कॉन्सेप्ट्स ऑफ़ क्रिटिसिज्म, पृ० ३६०

महत्त्व केवल कृति का है। उसकी रचना के समय लेखक की युगीन परिस्थितियाँ क्या थीं, वह किस प्रकार की मानसिक उथल-पुथल में गुज़र रहा था, इस सबसे नये समीक्षक और शिकागो समीक्षक को कुछ लेना-देना नहीं है; उनकी दृष्टि तो निरंतर कृति पर जमी रहती है — अपनी आलोचना में अथ से इति तक वे कृति के विवेचन-विश्लेषण में ही जुटे रहते हैं। कृति से बाहर कृति के विषय में यदि उन्हें कुछ मिल जाये तो उसे वे सूचना मात्र मानते हैं। यह सूचना उनके द्वारा कृति के विवेचन की पद्धति का किसी प्रकार भी नियमन नहीं करती।

२. दोनों ही रचना को एक अविभाज्य इकाई के रूप में देखते हैं। नया समीक्षक संवेद्य-तत्त्व और रूप-तत्त्व के बीच किसी खाई को स्वीकार नहीं करता है — उसके अनुसार रचना को विलगाकर देखने से उसका सारा सौंदर्य छिन्न-भिन्न हो जाता है, बल्कि इस प्रकार के पृथक्करण से रचना रचना न रहकर कोई और चीज़ बन जाती है — वह अपना वास्तविक रूप खो बैठती है और शेष रहता है एक कंकाल जो उसके असली रूप का परिचय देने में सर्वथा अशक्त होता है। ऐसे ही शिकागो समीक्षक भी रचना के अध्ययन के आधार पर सिद्धांत-सूत्र निकालकर उस सिद्धांत-सूत्र के सहारे यह देखने का प्रयास करता है कि रचना संपूर्ण भी है, कहीं ऐसा तो नहीं है कि बीच में उसका रूप त्रुटित हो रहा हो। तात्पर्य यह कि शिकागो समीक्षक को भी रचना अपनी संपूर्णता में ही ग्राह्य है, खंडित रूप में नहीं।

३. परंपरा के प्रति दोनों ही आग्रही हैं, किंतु जिस परंपरा के प्रति उनका मोह है वह मृत अथवा जड़ नहीं है — परंपरा का जीवंत रूप ही उन्हें प्रिय है। कहने का आशय यह कि दोनों ही परंपरा में युगानुरूप परिवर्तन के पक्षपाती हैं — लकीर के फ़क़ीर बनना उनके स्वभाव में नहीं है।

४. ऐतिहासिक समीक्षा से दोनों का ही विरोध है। ऐतिहासिक आलोचक लेखक के व्यक्तित्व और उसकी परिस्थितियों के अध्ययन पर विशेष बल देता है, किंतु नये समीक्षक और शिकागो समीक्षक के लिए यह सब व्यर्थ है। वे यह मानकर चलते हैं कि महत्त्व कृतिकार का नहीं, कृति का है, जबकि ऐतिहासिक आलोचक कृतिकार को अधिक महत्त्व देता है। इसीलिए अवसर पाते ही ये दोनों ऐतिहासिक आलोचक को खरी-खोटी सुनाने लगते हैं।

५. वैदुष्य दोनों की आलोचना का अनिवार्य तत्त्व है। जहाँ नया समीक्षक विद्वत्ता को आलोचना का अनिवार्य अंग घोषित करता है वहाँ शिकागो समीक्षक की तो सारी आलोचना पर ही उसका वैदुष्य हावी हो गया है। नया समीक्षक

साहित्यिक आलोचना और विविध विषयों के ज्ञान को एक-दूसरे का पूरक मानता है और शिकागो समीक्षक के ज्ञान ने उसके विवेचन को इस प्रकार आच्छादित कर लिया है कि कभी-कभी उसके संवेदनशील होने पर ही संदेह होने लगता है।

**वैषम्य**—इतना अधिक साम्य होने पर भी नये समीक्षक और शिकागो समीक्षक एक-दूसरे के प्रबल विरोधी हैं; विशेष रूप से शिकागो समीक्षक तो नये समीक्षकों के पीछे हाथ धोकर ही पड़ गये हैं—कभी-कभी तो ऐसा जान पड़ता है, जैसे उनका प्रमुख ध्येय नयी समीक्षा का विरोध करना ही है। शिकागो समीक्षक स्वयं इस तथ्य से अवगत हैं तभी तो क्रेन ने कहा है कि दो आलोचकों के मध्य विरोध की स्थिति तब भी संभव है जब दोनों का खोज-क्षेत्र एक ही हो, अर्थात् जब वे एक ही विषय की चर्चा कर रहे हों।[1] चूँकि नये समीक्षक और शिकागो समीक्षक, दोनों ही कृति को अपने विवेचन का केंद्र बनाते हैं इसलिए दोनों के बीच विरोध की संभावनाएँ और भी अधिक हो जाती हैं। क्रेन की ही भाँति एल्डर ऑल्सन भी कहते हैं—"उनमें और मानव-वादी, नवमानववादी, फ़्रायडवादी जैसे अपेक्षाकृत अधिक दूरवर्ती संप्रदायों में जितनी असहमति थी उसकी तुलना में उनमें (नये एवं शिकागो समीक्षकों में) असहमति की संभावना कहीं अधिक थी क्योंकि वे एक ही विषय को निरूपित करने का प्रयास कर रहे थे।"[2]

सारांश यह कि नये और शिकागो समीक्षकों के मध्य साम्य की अपेक्षा वैषम्य का ही स्वर अधिक प्रखर है। यह एक अलग बात है कि यह वैषम्य परिमाणगत न होकर गुणगत है। अब देखना यह है कि वे कौन-कौन से क्षेत्र हैं जहाँ इन दोनों की आलोचना-पद्धति पृथक् हो जाती है।

१. नये समीक्षक एकलवादी हैं जबकि शिकागो समीक्षक बहुलवादी। नया समीक्षक कविता के विषय में अपने द्वारा पूर्वनिर्धारित सिद्धांत के आधार पर ही उसका विवेचन-विश्लेषण करता है जबकि शिकागो समीक्षक विवेच्य रचना के अध्ययन के आधार पर निकाले गये सिद्धांत को उसके विवेचन का आधार बनाते हैं और इस प्रकार प्रत्येक कृति के विवेचन के संदर्भ में शिकागो समीक्षकों का सिद्धांत परिवर्तित हो जाता है। डॉ० राजनाथ ने भी इस वैषम्य को लक्षित करते हुए लिखा है—"नये और शिकागो समीक्षकों में मुख्य अंतर इस बात मे निहित है कि जहाँ नये समीक्षक अपने एकल सिद्धांत-सूत्रों में व्यस्त हैं

---

१. डॉ० राजनाथ-लिखित एसेज़ इन क्रिटिसिज़्म के पृ० ७९ पर उद्धृत

२. एरिस्टॉटिल्'स पोइटिक्स एंड इंग्लिश लिटरेचर, भूमिका-भाग, पृ० २५

और परीक्ष्य कविताओं में उन्हीं का संधान करते हुए दिखायी पड़ते हैं, वहाँ शिकागो समीक्षक संबद्ध कृति से ही अपने सिद्धांत को उद्‌घाटित करते हैं और इस प्रकार आलोचनात्मक पूर्वाग्रहों से मुक्त हैं। ... व्यावहारिक आलोचना में यह अंतर सरलता से समझा जा सकता है। नया समीक्षक एक विशिष्ट शब्द के आधार पर कृति के मूलभूत गुण के विषय में पहले से ही निर्णय ले लेता है और जिस कृति के अध्ययन में वह प्रवृत्त होता है उसमें उसके उदाहरण खोजने का प्रयास करता है। इसके विपरीत शिकागो समीक्षक पहले से केवल पद्धति अथवा किसी कृति के समीप पहुँचने का मार्ग ही जानता है और किसी विशिष्ट कृति के विवेचन में उसके निष्कर्षों का निर्धारण प्रसंग की उस संरचना के द्वारा किया जाता है जो उस कृति की व्याख्या से उद्‌भूत होती है। नया समीक्षक विरोधाभास अथवा अनेकार्थता, शब्द-विधान अथवा भंगिमा से प्रारंभ करता है, जबकि शिकागो समीक्षक रूप-विधान से प्रारंभ करता है, और मानता है कि उसके संदर्भ में ही कृति के सभी तत्त्वों का विश्लेषण संभव है जिनमें भाषा भी अंतर्भुक्त है।"[1] लगभग यही बात डॉ० शिवकरणसिंह ने भी कही है — "नये समीक्षकों ने अनेकार्थता, तनाव और सम्मूर्तन के सार्वभौम सिद्धांत को प्रतिपादित किया था। उनकी दृष्टि रचना के उन्हीं स्थलों पर केंद्रित रहती थी जिनके माध्यम से वे अपने सिद्धांत पर प्रकाश डाल सकते थे। शिकागो समीक्षक इससे भिन्न पद्धति अपनाते थे। वे सिद्धांत के पूर्वग्रह से मुक्त होकर समग्र रचना के आलोड़न के द्वारा उसी से सिद्धांत प्राप्त करते थे।"[2]

२. नये समीक्षकों के सिद्धांत और पद्धति, दोनों ही अपने हैं, जबकि शिकागो समीक्षक का सिद्धांत तो अपना होता है, किंतु वह पद्धति में अरस्तू का अनुसरण करता है — शिकागो समीक्षक कृति के विवेचन में अरस्तू की ही भाँति कथावस्तु, चरित्र, विचार और भाषा, इन सभी से होकर गुज़रता है।

३. जहाँ नया समीक्षक अपनी आलोचना में अथ से इति तक रचना की भाषा के ही ऊहापोह में व्यापृत रहता है वहाँ शिकागो समीक्षक किसी कृति का विवेचन करते समय उस कृति की कथावस्तु के विन्यास अथवा रूप को सर्वाधिक प्रमुखता देता है — शिकागो समीक्षक के यहाँ भाषा का स्थान काव्य के सभी तत्त्वों में सबसे नीचा है। क्रेन के अनुसार भाषा का अपना रूप अनुप्रास एवं लय आदि ध्वनि-मूल्यों में निहित तो है, किंतु भाषा विचारों की अंतर्वस्तु है; अतएव विचार ही उसका रूप है। इसी भाँति विचार चरित्र की अंतर्वस्तु है, एवं चरित्र ही उसका रूप है। चरित्र कार्य-व्यापार की अंतर्वस्तु

१. एसेज इन क्रिटिसिज्म, पृ० ८४
२. आलोचना के आधुनिक वाद और नयी समीक्षा, पृ० १४६

है, एवं कार्य-व्यापार ही उसका रूप है। कार्य-व्यापार कथानक की अंतर्वस्तु है, एवं भावोद्रेक ही कथानक का रूप है।

४. यदि नये समीक्षकों की दृष्टि में क्लिष्टता अथवा अनेकार्थता काव्य-भाषा का गुण है तो शिकागो समीक्षक काव्य में यथासंभव स्पष्ट भाषा के प्रयोग पर बल देता है। अपने निबंध 'विलियम एंपसन, कॉन्टेंपोरेरी क्रिटिसिज़्म एंड पोइटिक डिक्शन' में ऑल्सन ने एंपसन द्वारा समर्थित अनेकार्थमयी भाषा की घोर भर्त्सना की है और साथ ही रचना में नितांत अक्लिष्ट भाषा के व्यवहार की सिफ़ारिश की है।

५. इन दोनों की आलोचना में परिधि का भी अंतर है। नयी समीक्षा की परिधि में जहाँ केवल कविता का विवेचन-विश्लेषण आता है वहाँ शिकागो समीक्षा की परिधि का विस्तार कविता के साथ ही उपन्यास, नाटक आदि अन्य साहित्य-विधाओं के विवेचन-विश्लेषण तक दृष्टिगत होता है। यों तो क्लिअंथ ब्रुक्स ने नाटक तथा उपन्यास की समझ पर पुस्तकें लिखकर नयी समीक्षा की परिधि को व्यापक बनाने का प्रयास किया है; किंतु अपने इस उद्देश्य में वे बहुत दूर तक सफल नहीं हो सके हैं।

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि नये तथा शिकागो समीक्षकों में समानताओं के रहते हुए भी उनके बीच दूरियाँ भी पर्याप्त हैं। उनके द्वारा एक-दूसरे पर किये गये घात-प्रतिघात इन दूरियों को और अधिक उजागर कर देते हैं।

## शैलीविज्ञान

जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, शैलीविज्ञान भाषा की विभिन्न शैलियों के वैज्ञानिक अध्ययन का शास्त्र है। लेखक उसे विज्ञान की अपेक्षा शास्त्र कहना अधिक पसंद करेगा। कारण यह कि यद्यपि विज्ञान और शास्त्र, दोनों ही नियमों से परिचालित होते हैं तथापि नियमों की जो जकड़बंदी विज्ञान के क्षेत्र में परिलक्षित होती है वह शास्त्र के क्षेत्र में नहीं, और शैलीविज्ञान में निश्चय ही विज्ञान के नियमों की जकड़बंदी नहीं है -- किसी एक ही भाषा-खंड का दो व्यक्तियों द्वारा किया गया शैलीवैज्ञानिक विवेचन कभी एक नहीं हो सकता; नियमों का समान रूप से परिपालन किये जाने पर भी दोनों की अलग-अलग सूझ-बूझ के कारण, विवेचन में कुछ-न-कुछ अंतर अवश्यंभावी है जबकि विज्ञान में, विभिन्न व्यक्तियों की सूझ-बूझ में अलगाव होने पर भी, नियमों की दृढ़ता के कारण परिणाम सदैव समान ही होगा (अपवादों की

बात अलग है)। शैलीशास्त्र (रीतिविज्ञान) तथा तद्विषयक आलोचना के बहुत बड़े पक्षधर विद्यानिवास मिश्र को भी विवश होकर यह लिखना ही पड़ गया है — "यह स्वीकार करना चाहिए कि रीति-विज्ञान-परक विश्लेषण का कोई सर्वमान्य ढर्रा अभी तक निर्धारित नहीं किया जा सका है,......।"[1] वैसे भी अँग्रेज़ी के शब्द 'स्टाइलिस्टिक्स' का हिंदी अनुवाद शैलीशास्त्र ही होगा, शैलीविज्ञान नहीं; क्योंकि अँग्रेज़ी का 'इक्स' परसर्ग सामान्यतः शास्त्र का ही वाचक होता है, विज्ञान का नहीं। शैलीशास्त्र के जर्मन स्कूल का भी नाम 'शैलीशोध' (स्तिलफ़ोशुंक) है जिससे स्पष्ट पता चलता है कि जर्मन शैलीशास्त्री भी इसे विज्ञान मानने के पक्ष में नहीं हैं।

इस शैलीशास्त्र बनाम शैलीविज्ञान का रूप विश्लेषात्मक और आख्यानात्मक होता है। यद्यपि सामान्यतः यह भाषिक रूप से प्रारंभ करके उस भाषा में अभिव्यक्त विचार या अनुभूति की खोज में अग्रसर होता है, तथापि स्थिति में कभी-कभी बदलाव भी आ सकता है, और तब यह देखता है कि किसी विचार या अनुभूति को रूपायित करने के लिए अभिव्यक्ति के किन-किन साधनों का अवलंब लिया गया है। विद्वानों ने भाषा के समस्त अभिव्यक्तिपरक पक्षों को इसके क्षेत्र में समाहित करते हुए इसे मुख्यतः पाँच शाखाओं में विभक्त किया है — ध्वनिविश्लेषक शैलीशास्त्र, छंदविश्लेषक शैलीशास्त्र, रूपविश्लेषक शैलीशास्त्र, वाक्यविश्लेषक शैलीशास्त्र और शब्दविश्लेषक शैलीशास्त्र।[2] अर्थ-विश्लेषण को शैलीशास्त्र की सीमा में लिया जाय अथवा नहीं, इस विषय में सभी भाषाशास्त्री एकमत नहीं हैं। अर्थीय शैलीविज्ञान के अतिरिक्त डॉ० भोलानाथ तिवारी ने शैलीशास्त्र की दो अन्य शाखाओं की भी कल्पना की है जिन्हें उन्होंने प्रोक्तीय शैलीविज्ञान और लेखीय शैलीविज्ञान नाम दिये हैं।[3]

शैलीशास्त्र का साहित्य से क्या संबंध है — इसका संबंध साहित्य से है भी या नहीं, अथवा इसका संबंध केवल साहित्य से ही है, यह पर्याप्त विवाद का विषय है। एक ओर तो फ़र्डिनैंड डि सॉस्यूर हैं जिनका बल सामान्य भाषा (लांग) के विश्लेषण पर है, विशिष्ट भाषा (पैरोल=औषधिविज्ञान की भाषा,

---

१. रीतिविज्ञान, पृ० ३३

२. (अ) प्रिंसटन इंसाइक्लोपीडिआ ऑफ़ पोइट्री एंड पोइटिक्स, संपादक—एलेक्स प्रेमिंगर, पृ० ८१७

(आ) ए डिक्शनरी ऑफ़ लिटरेरी टर्म्स, लेखक—जे० ए० कुड्डॉन, पृ० ६४८

३. शैलीविज्ञान, पृ० २३-२५

विधि की भाषा, धार्मिक उपदेश की भाषा, साहित्यिक भाषा आदि) और उसमें भी साहित्यिक भाषा में उनकी रुचि नहीं के बराबर है। लगभग यही दृष्टिकोण उनके शिष्य चार्ल्स बेली का भी है जिन्हें आधुनिक भाषाशास्त्र के व्यवस्थित अध्ययन का श्रेय दिया जाता है। दूसरी ओर रेमंड चैपमैन हैं जो शैलीशास्त्र की परिधि में सामान्य भाषा के अध्ययन के साथ-ही-साथ साहित्यिक भाषा के अध्ययन को भी समाहित करते हैं।[1] यह बात अलग है कि जिस शैलीशास्त्र के अंतर्गत साहित्यिक भाषा का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है उसे उन्होंने साहित्यिक शैलीशास्त्र की संज्ञा दी है। तीसरी ओर डॉ० भोलानाथ तिवारी हैं जो, सॉस्यूर तथा बेली से एकदम विपरीत, मात्र साहित्यिक भाषा के विश्लेषण को ही शैलीशास्त्र का विषय मानते हैं। उनके शब्द हैं— "साहित्य में अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है, इसीलिए साहित्य का समुचित अध्ययन इस माध्यम के विवेचन-विश्लेषण के बिना संभव नहीं। शैलीविज्ञान मुख्यत: इसी विश्लेषण-विवेचन से संबद्ध है। वह साहित्यिक भाषा के सर्जनात्मक प्रयोगों का व्याकरण है।"[2] अन्यत्र वे लिखते हैं— 'इसमें (शैलीविज्ञान में) साहित्यिक भाषा के सर्जनात्मक प्रयोगों का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण किया जाता है।"[3] डॉ० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव के मतानुसार भी "साहित्य के अध्ययन-विश्लेषण की वैज्ञानिक पद्धति ही शैली-विज्ञान का मूलाधार है।"[4]

उपर्युक्त विरोधी मान्यताओं के कारण शैलीशास्त्र और साहित्य के संबंध का प्रश्न और भी जटिल हो जाता है। इस जटिलता को सुलझाने के लिए विषय की थोड़ी व्यापक मीमांसा आवश्यक हो जाती है :

शैलीशास्त्र के दो प्रमुख स्कूल हैं— फ्रांसीसी शैलीशास्त्र (फ्रेंच स्टाइलिस्टिक), और जर्मन शैलीशोध (जर्मन स्तिलफ़ोर्शुंक)। फ्रांसीसी शैलीशास्त्र का मुख्य संबंध भाषाशास्त्र से है, साहित्य के इतिहास और साहित्य-समीक्षा से उसका संबंध गौण ही है। इसका मूल उद्देश्य शैली के विज्ञान, अथवा भाषा के समस्त शैलीय तत्त्वों के कोश का निर्माण है। साहित्यिक भाषा उन अनेक विशिष्ट भाषाओं में से एक है जो मिलकर एक सामान्य भाषा का निर्माण करती हैं। इनमें से किसी भी भाषा का शैलीशास्त्रीय अध्ययन किया जा

---

१. लिंग्विस्टिक्स एंड लिटरेचर, पृ० १३
२. शैलीविज्ञान, दो शब्द, पृ० ३
३. शैलीविज्ञान, पृ० २३
४. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका, भूमिका-भाग, पृ० ३

सकता है। जब शैलीशास्त्र किसी विशिष्ट कृति को अपने अध्ययन का विषय बनाता है तब यह शैली के उन समस्त स्रोतों पर विचार करता है जो भाषा में पूरी शक्ति के साथ उभर रहे होते हैं, यह बताता है कि लेखक ने अभिव्यक्ति के उपलब्ध साधनों में से किसी एक विशिष्ट शैली का ही चयन क्यों किया, साथ ही यह सामान्य भाषा और लेखक के द्वारा प्रयुक्त भाषा के बीच तुलना करके लेखक की मौलिकता का भी निर्धारण करता है। परिणामतः यह उस श्रेणी-विभाजन की पद्धति को व्यवहार में लाता है जिसके अंतर्गत यह रचना के अवयवरूप तत्त्वों का संधान करता है। उदाहरण के लिए, यह स्वर और व्यंजन ध्वनियों को, लयों और छंदों को, व्याकरणिक शब्द-भेदों को, शब्दों के विभिन्न प्रकारों को, वाक्यों के विभिन्न रूपों को, अलंकारों को, तथा बिंबों को अलग-अलग सूची में रखकर देखता है। यही कारण है कि फ्रांसीसी शैली-शास्त्र में अनेक चार्ट, ग्राफ एवं सारणियाँ दृष्टिगत होती हैं और इसकी पद्धति बहुत-कुछ गणितीय हो गयी है। रचना के अंदर शैली के विभिन्न तत्त्वों के बीच संबंध-निर्धारण से इसका सामान्यतया कुछ लेना-देना नहीं होता। यद्यपि यह शैलीशास्त्र कभी-कभी शैली और व्याकरण के बीच घाल-मेल कर बैठता है तथापि यह रहता एक विशिष्ट भाषा की ही परिधि में है तथा साहित्यिक भाषा और सामान्य भाषा के अंतःसंबंध का यह निरंतर निर्देश करता चलता है। इसकी खोजों का अनिवार्यतः मिलान किया जा सकता है।

जर्मन शैलीशोध का संबंध केवल साहित्य के इतिहास और साहित्य-समीक्षा से ही है। यह भाषा के ठोस रूप को महत्त्व न देकर, भाषा में अभिव्यक्त "चेतना" अथवा उसमें निहित मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण पर बल देता है। यह मानता है कि रचना को उसकी समग्रता में ही समझा जा सकता है, इसीलिए रचना का विश्लेषण करते समय यह श्रेणी-विभाजन की पद्धति को स्वीकार नहीं करता है। इसका लक्ष्य रचना के उस आंतरिक रूप की पकड़ होता है जो उसके बाह्य रूप का निर्धारण करता है। साथ ही यह रचना के विभिन्न अवयवों का उसकी समग्रता के साथ संबंध भी निर्धारित करता है। रचना की भाषा जब असामान्य हो उठती है तब शोधकर्त्ता यह जान लेता है कि ऐसा आंतरिक रूप की असामान्यता के कारण हुआ है। इस प्रकार आंतरिक और बाह्य रूपों के अंतर्मंथन से समग्र रचना का पुनस्सर्जन किया जा सकता है। यह शैलीशोध फ्रांसीसी शैलीशास्त्र की भाँति चार्टों, ग्राफों और सारणियों के चक्कर में नहीं पड़ता, प्रत्युत अपने को शैली के एक अथवा अनेक मूलभूत तत्त्वों पर केंद्रित करता है। यहाँ आंतरिक रूप की अवधारणा अनेक कठिनाइयों को उपस्थित करती है; क्योंकि यह आंतरिक रूप सामान्यतः

सौंदर्यपरक न होकर लेखक की मानसिक अनियमितताओं अथवा उसके तत्त्व-दर्शन से संबद्ध होता है। आंतरिक रूप पर अतिरिक्त बल दिये जाने का परिणाम यह होता है कि भाषा का विश्लेषण तो पीछे छूट जाता है और उभर आती है लेखक के युग और उसके राष्ट्र से संबद्ध उसकी चेतना। इस प्रकार शैलीशोध लेखक की मनःस्थिति के विवेचन अथवा विचारों के इतिहास की ओर मुड़ जाता है, और इसी कारण इस पर यह दोषारोपण किया जाता है कि यह प्रथम तो रचना की "चेतना" का संधान करता है और उसके बाद कहीं रचना की शैली के विश्लेषण में प्रवृत्त होता है जबकि शैली-विश्लेषण उसका प्रथम करणीय है।

दोनों स्कूलों में मूलभूत अंतर, जिसका लेखक मुख्यतः उल्लेख करना चाहता है, यह है कि फ्रांसीसी शैलीशास्त्र में जहाँ साहित्य को गौण स्थान प्राप्त है वहाँ जर्मन शैलीशोध का एकमात्र विश्लेष्य साहित्य ही है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि साहित्य की स्वीकृति दोनों ही स्कूलों में है। वस्तुतः साहित्य को छोड़कर शैलीशास्त्र आगे बढ़ नहीं सकता और आज तो शैली-शास्त्रियों में शैलीशास्त्र का प्रतिपाद्य केवल साहित्य को ही मानने की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल हो गयी है और वे शैलीशास्त्रीय पद्धति के निरूपण में मात्र साहित्य का ही अवलंब ले रहे हैं। ऐसी स्थिति में लेखक को डॉ० नगेंद्र का यह मत अत्यंत सटीक जान पड़ता है—".. यह कहना असंगत नहीं होगा कि यद्यपि बेली आदि ने व्यवहारगत जीवंत भाषा-शैली को ही शैलीविज्ञान का विषय माना है और साहित्यिक भाषा-शैली का बहिष्कार किया है, फिर भी बहुमत प्रायः यही है—और होता जा रहा है कि शैलीविज्ञान मुख्यतः साहित्य की भाषा-शैली का भाषावैज्ञानिक अध्ययन है। इस तथ्य को कई प्रकार से व्यक्त किया गया है: शैलीविज्ञान साहित्य का भाषिक अध्ययन है; शैलीविज्ञान साहित्यिक भाषा-शैली का वैज्ञानिक अध्ययन है; शैलीविज्ञान साहित्य का विज्ञान है; शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान की वह शाखा है जिसका क्षेत्र है साहित्य; शैलीविज्ञान समीक्षा का वह नवीन आयाम है जो साहित्य का अध्ययन भाषाविज्ञान के सिद्धांतों और प्रविधि के आधार पर करता है—आदि, आदि।

"उपर्युक्त निर्णय के मूल में सीधा तर्क है: शैली का प्रायः सर्वमान्य अर्थ है—सामान्य से भिन्न भाषिक प्रयोग-विधि=कथन-भंगिमा। सामान्य से पार्थक्य का द्योतन करने के लिए 'विपथन', 'रूप-भेद', 'व्याकरण-मुक्त प्रयोग', 'अतर्क्य प्रयोग' आदि जिन शब्दों या शब्द-समूहों का उपयोग किया गया है, उनका समाहार 'भंगिमा' में प्रायः हो जाता है। कथन-भंगिमा के इन सभी

तत्त्वों का सर्वश्रेष्ठ (क्रैसो के शब्दों में 'पार एक्सलेंस')— अर्थात् सबसे अधिक प्रभावी एवं समृद्ध रूप मिलता है साहित्यिक शैली में। अतः शैलीविज्ञान का वास्तविक विवेच्य विषय साहित्यिक शैली ही है—जो प्रायोगिक शैली का स्फटिक रूप है।"[1]

शैलीशास्त्र किसी एक अवतरण का भी विश्लेषण कर सकता है और किसी समग्र कृति, कृतियों के समवाय, विधा-विशेष अथवा साहित्यिक युग की भाषा का भी। इसकी कतिपय सामान्य प्रवृत्तियों को निम्नांकित रूपों में देखा जा सकता है :

१. **भाषिक विश्लेषण**—शैलीशास्त्र में भाषिक विश्लेषण अथ भी है और इति भी। एक शैलीशास्त्री साहित्य-जगत् में व्यवहार्यमाण भाषा के विभिन्न अवयवों — ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, लय आदि — का बड़ी सूक्ष्मता के साथ अध्ययन प्रस्तुत करता है। वह लेखक के द्वारा विशिष्ट प्रभाव की सृष्टि के लिए भाषा में किये गये परिवर्तनों —विपथन, चयन, समानांतरता इत्यादि — और उसके द्वारा प्रयुक्त अलंकारों, बिंबों आदि पर बड़ी गंभीरता के साथ विचार करता है। फ्रांसीसी शैलीशास्त्र में तो भाषा का विश्लेषण साधन और साध्य दोनों ही हैं जबकि जर्मन शैलीशोध में इस विश्लेषण के सहारे कवि की चेतना तक पहुँचने का प्रयास किया जाता है, किंतु प्रधानता यहाँ भी भाषा के ही विश्लेषण की होती है। वस्तुतः शैलीशास्त्र का तो जन्म ही भाषा की विविध शैलियों का अध्ययन करने के लिए हुआ है।

२. **केंद्र का आलोकन** — जब एक शैलीशास्त्री किसी साहित्यिक कृति का विवेचन-विश्लेषण करने के लिए उन्मुख होता है तब वह उसे कृतिकार के समग्र परिवेश — सर्जना के क्षणों में उसकी मनःस्थिति, उसकी युगीन परिस्थितियों आदि — से काटकर देखने का प्रयास करता है। उसकी दृष्टि में कृति ही सब कुछ है और वह अपना सारा ध्यान उसी पर केंद्रित कर देता है — उसी को उलट-पलट कर देखने में वह अपनी इतिकृत्यता मानता है। इस विषय में डॉ० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव के ये शब्द द्रष्टव्य हैं — "शैलीविज्ञान का चिंतन वस्तुपरक है और दृष्टि भाषावादी। अतः शैलीवैज्ञानिक मान्यता के अनुसार कविता को न तो कवि के उस अभिप्राय के आधार पर जाँचा-परखा

१. शैलीविज्ञान, पृ० १६-२०

जा सकता है जिसे लेकर वह अपनी कृति की रचना करता है और न पाठकों पर पड़े प्रभाव के संदर्भ में उसकी व्याख्या संभव है। कविता का वास्तविक क्षेत्र स्वयं 'कविता' अर्थात् 'कृति' है जो स्वयं में ठोस और यथार्थ है और जिसका अपना पूरा संसार भाषा और शैली की सीमा में आवद्ध रहता है।"[1] तात्पर्य यह कि एक भाषाशास्त्री की दृष्टि आद्यंत कृति पर ही जमी रहती है — उससे हटकर उससे संबद्ध सूचना को वह एकदम अस्वीकार करता है। वास्तव में एक भाषाशास्त्री चाहते हुए भी कृतिविषयक किसी सूचना को अपने अध्ययन में समाहित नहीं कर सकता; क्योंकि उसकी अपनी एक सीमा होती है और वह यह कि उसके अध्ययन का क्षेत्र केवल कृति की ही भाषा होती है, इस भाषा से व्यतिरिक्त किसी अन्य सूचना को अपने अध्ययन में समेटते ही वह अपने विवेच्य से एकदम दूर जा पड़ेगा।

३. संवेद्य-तत्त्व और रूप-तत्त्व की अविच्छेद्यता — शैलीशास्त्र में कृति को उसकी समग्रता में देखने का प्रयास किया जाता है। शैलीशास्त्री यह मानकर चलता है कि प्रत्यय (कॉन्सेप्ट = अर्थ) और प्रत्यायक (एक्सप्रेशन = अभिव्यक्ति = कथन-भंगिमा) एक-दूसरे से ऐसे अनुस्यूत रहते हैं कि उन्हें विलगा पाना संभव ही नहीं है। (भारत में भी कालिदास और तुलसीदास जैसे महाकवियों ने 'वागर्थ की संपृक्ति' तथा 'गिरा-अरथ की अभिन्नता' की घोषणा डंके की चोट पर की है।) इसीलिए वह कृति का पर्यवेक्षण उसे संवेद्य और रूप जैसे तत्त्वों में विभक्त करके नहीं करता; क्योंकि ऐसा करने से, उसके मतानुसार, कृति की समग्रता खंडित हो जाती है। एक शैलीशास्त्री किसी कविता को उसकी समग्रता में किस प्रकार विश्लेषित करता है, इसे प्रलय की छाया, राम की शक्ति-पूजा, तथा असाध्य वीणा-जैसी कविताओं की उन व्याख्याओं में देखा जा सकता है जिन्हें डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने अपनी पुस्तक 'रीतिविज्ञान' में प्रस्तुत किया है।

४. मूल्यांकन का निषेध — शैलीशास्त्रीय समालोचना मूल्यांकन को स्वीकार नहीं करती है, कर भी नहीं सकती। कारण यह कि शैलीशास्त्र आद्योपांत भाषा की ही उधेड़-बुन में व्यस्त रहता है। जो समीक्षा-पद्धति मात्र भाषा के ही विश्लेषण पर रुक जाय, मूल्यांकन उसके वश की बात नहीं है। शैलीशास्त्र की इस प्रवृत्ति को डॉ० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव ने भी लक्षित किया है। यह बात दूसरी है कि शैलीशास्त्र को विज्ञान सिद्ध करने के चक्कर में

---

१. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका, भूमिका-भाग, पृ० ४

वे इस पद्धति के द्वारा साहित्य के मूल्यांकन को अनुपयोगी बताते हैं और इस प्रकार मूल्यांकन की सार्थकता को ही स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है — "साहित्य का कोई उद्देश्य होता है या नहीं अथवा कविता मूल्य-सापेक्ष होती है या नहीं, इस पर शैलीविज्ञान अपना कोई अंतिम निर्णय नहीं देता, देना भी नहीं चाहता। वह तो वैज्ञानिकों की पद्धति अपनाते हुए मात्र यह कहना चाहता है कि साहित्य का, (अथवा किसी भी कलाकृति का) उद्देश्य या मूल्यों के संदर्भ में अध्ययन-विश्लेषण का विचार स्वयं में उपयोगी नहीं। कोई वस्तु 'क्या' है और वह 'क्या' करती है इसकी विवेचना को तो वैज्ञानिक दृष्टि अपनाती है; पर वह वस्तु 'क्यों' है, उसकी सत्ता किस उद्देश्य को लेकर है, इन प्रश्नों को अपने सीमा-क्षेत्र से बाहर ही रखती है।"[1] निष्कर्ष यह कि शैलीशास्त्र मूल्यांकन को अंगीकार नहीं करता। साहित्य के संदर्भ में मूल्यांकन की उपयोगिता है अथवा नहीं, इस विषय में विवाद के लिए पर्याप्त अवकाश है। यहाँ पर इस विवाद में पड़ना लेखक का उद्देश्य नहीं है।

सामान्यतः ये ही वे प्रवृत्तियाँ हैं जो शैलीशास्त्रीय समीक्षा में पूरी शक्ति के साथ उभरकर अध्येता के समक्ष आती हैं।

**नव्यालोचन एवं शैलीशास्त्र :**

**साम्य** — १. नयी समीक्षा और शैलीशास्त्र, दोनों की ही दृष्टि भाषा-परक है। दोनों ही भाषिक विश्लेषण से प्रारंभ करते और वहीं पर समाप्त करते हैं। प्रक्रिया में दोनों में अंतर अवश्य हो जाता है — नयी समीक्षा में जहाँ पूर्वनिर्धारित प्रतिमानों के आधार पर कृति को निरखा-परखा जाता है वहाँ शैलीशास्त्र में कृति की भाषा की विभिन्न प्रवृत्तियों का विवेचन ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, छंद आदि के आधार पर किया जाता है।

२. ऐतिहासिक आलोचना से दोनों का ही विरोध है। दोनों ही समीक्षा-पद्धतियाँ कृति को कृतिकार और उसके युगीन परिवेश से काटकर देखती हैं। उनके अनुसार महत्त्वपूर्ण कृति है, कृतिकार नहीं। इसीलिए वे आद्यंत कृति — केंद्र के आलोकन में ही व्यस्त रहती हैं। डॉ० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव ने भी दोनों के बीच इस साम्य का उल्लेख किया है।[2]

---

१. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका, भूमिका-भाग, पृ० ४
२. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका, पृ० ५५

३. कृति की अखंडता में दोनों का ही विश्वास है। वे उसे एक ऐसी इकाई मानते हैं जिसे संवेद्य-तत्त्व और रूप-तत्त्व में विभाजित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के वर्गीकरण से कृति का सारा सौंदर्य तिरोहित हो जाता है और बचता है उसका अंग-भंग जो नितांत जुगुप्सा-कारी होता है। कृति का महत्त्व उसकी समग्रता में ही है, अंग-विच्छेद में नहीं।

४. साहित्य अथवा कृति के मूल्यांकन को न तो नयी समीक्षा स्वीकार करती है और न ही शैलीशास्त्र। दोनों का उद्देश्य कृति की व्याख्या-भर कर देना है। दोनों ही यह चाहते हैं कि भाषा की विविध भंगिमाओं को पाठक के समक्ष उजागर कर दिया जाय।

५. वैदुष्य दोनों ही समीक्षा-पद्धतियों के लिए अनिवार्य शर्त है। नयी समीक्षा की प्रवृत्तियों के संदर्भ में बताया जा चुका है कि नये समीक्षक के लिए विद्वत्ता अपरिहार्य है। शैलीशास्त्रीय समालोचना में भी कोई व्यक्ति तब तक प्रवृत्त नहीं हो सकता जब तक शैलीशास्त्र के विभिन्न नियमों से उसका गंभीर परिचय न हो।

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि नव्यालोचन तथा शैलीशास्त्र में बहुत दूरी तक साम्य है, किंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि दोनों में वैषम्य का अभाव है। दोनों में वैषम्य है और इतना अधिक है कि आलोचना की ये दोनों पद्धतियाँ छिटककर अपना-अपना अलग रूपाकार धारण कर लेती हैं :

वैषम्य — १. दोनों के सिद्धांत अलग-अलग हैं, अतः दोनों की समीक्षा-पद्धतियाँ भी अलग हो जाती हैं — नये समीक्षक जहाँ कृति की भाषा का विश्लेषण सामान्यतः अपने द्वारा निर्धारित सिद्धांतों के आधार पर करते हैं वहाँ शैलीशास्त्री रचना की भाषा को ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान, वाक्यविज्ञान आदि विज्ञानों के आलोक में देखते हैं।

२. नयी समीक्षा का क्षेत्र काव्य-भाषा तक सीमित है जबकि शैली-शास्त्र की परिधि समग्र वाङ्मय की भाषा तक व्याप्त है बल्कि फ्रांसीसी शैलीशास्त्र तो सामान्य भाषा तक का अध्ययन करता है, यहाँ तक कि उसके अध्ययन का मुख्य विषय तो सामान्य भाषा ही है, साहित्यिक भाषा में उसकी रुचि बहुत ही कम है।

३. नयी समीक्षा जहाँ केवल कृति का ही विश्लेषण करके रह जाती है वहाँ शैलीशास्त्र कृति के अतिरिक्त अनेक कृतियों के समूह, विधा-

विशेष तथा साहित्य के युग-विशेष तक का विश्लेषण करता है । इस प्रकार विश्लेषण की दृष्टि से शैलीशास्त्र का क्षेत्र नयी समीक्षा के क्षेत्र की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है ।

४. शैलीशास्त्र का एक स्कूल — जर्मन शैलीशोध — कृति की भाषा में निहित कृतिकार की चेतना को उद्घाटित करने का प्रयास करता है जबकि नयी समीक्षा में कवि की अंतश्चेतना तथा उसके जीवन-वृत्त का कोई विशेष महत्त्व नहीं है ।

५. नयी समीक्षा में कृति को परंपरा में देखने पर बहुत बल है — अनेक नये समीक्षकों द्वारा शेक्सपियर से लेकर आज तक की कविताओं को क्रमशः विश्लेषित करने में उनकी यही परंपराप्रियता लक्षित होती है । शैलीशास्त्र में परंपरा के प्रति ऐसा कोई मोह दृष्टिगत नहीं होता — शायद ही कोई ऐसा शैलीशास्त्री होगा जिसने परंपरा की बात उठायी हो ।

५

# मूल्यांकन

नव्यालोचन की विभिन्न उपलब्धियों के विषय में पर्याप्त वैमत्य के लिए अवकाश की संभावना रहते हुए भी, इस तथ्य को स्वीकार करने में संभवतः किसी भी विद्वान को आपत्ति न होगी कि नयी समीक्षा आधुनिक युग का एक अत्यंत प्रभावशाली समीक्षा-आंदोलन है। इस विषय में जॉन पाल प्रिचर्ड के शब्दों का अवलंब लेकर कहा जा सकता है कि नये समीक्षक उन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और रोचक समीक्षा-संप्रदायों में से एक हैं जिन्हें आज तक बीसवीं शती ने जन्म दिया है।[1]

**उपलब्धियाँ :**

१. नये समीक्षकों के द्वारा निरूपित विभिन्न काव्य-सिद्धांतों — शब्द-विधान, तनाव, भंगिमा, विरोधाभास, अनेकार्थता आदि — को लेकर उनका बहुत अधिक विरोध किया गया है और कहा गया है कि नयी समीक्षा ने सारी कविता को एक फ़ार्मूले में बदलकर रख दिया है। उस पर यह आरोप लगाया गया है कि उसने आलोचना को एक अत्यंत प्राविधिक क्षेत्र में लाकर खड़ा कर दिया है, एक ऐसे प्राविधिक क्षेत्र में जहाँ सामान्य पाठक की रसाई ही नहीं है। उसने साहित्य को एक ऐसी पहेली बना दिया है जिसमें कतिपय विशेष जानकार लोग ही रुचि ले सकते हैं। यहाँ आलोचना का उद्देश्य यह मान लिया गया है कि एक आलोचक दूसरे आलोचक को, दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को, और इसी प्रकार अन्य अन्यों को कविता के विशिष्ट विश्लेषण में प्रशिक्षित करें और सामान्य पाठक को अलग रखकर केवल परस्पर ही संलाप करें। एल्फ़्रेड कज़िन ने तो नयी समीक्षा के विरुद्ध अपने आक्रोश को व्यक्त करते हुए यहाँ तक कह डाला है कि यह समीक्षा-पद्धति तकनीकी बारीकियों की ओर इतनी अधिक मुड़ गयी है कि वह साहित्यकार की चेतना को मशीन ही मान बैठी है — नये समीक्षक की दृष्टि में साहित्य-

---

१. क्रिटिसिज़्म इन अमेरिका, पृ० २६५

कार की रुचि, उसकी अंतरात्मा तथा उसके मानस मानों उसकी चेतना-रूपी मशीन के क्रमशः गीयर, लीवर और पहिये हैं।[१] ओलिवर एल्सटन के शब्दों में नये समीक्षक समीक्षक कम, कीटविज्ञानवेत्ता और ज्यामितिज्ञ अधिक हैं।[२] उनके विचारानुसार जो विद्यार्थी नयी समीक्षा के अनुशासन का पालन करेंगे वे समीक्षक तो नहीं, हाँ, केमिस्ट और इंजीनियर अवश्य बन जायेंगे।[3]

यों खिल्ली तो किसी भी समीक्षा-पद्धति की उड़ायी जा सकती है, किंतु कोई भी समीक्षा-पद्धति किसी भी कलाकृति के विषय में पूर्ण सत्यापन का दावा नहीं कर सकती। किसी भी समीक्षा-आंदोलन की सार्थकता इस बात में निहित है कि वह सामान्य पाठक का ध्यान कला के उपेक्षित अथवा विस्मृत पक्षों की ओर आकृष्ट कर दे। ऐतिहासिक आलोचना में कृतिकार को जो बहुत अधिक महत्त्व दिया जाने लगा था और कृति की उपेक्षा-सी होने लगी थी, नयी समीक्षा ने उक्त आलोचना की इस प्रवृत्ति का विरोध करते हुए पाठक का ध्यान कृति की ओर आकृष्ट करने का श्लाघनीय प्रयास किया। हो सकता है, यह सही न हो कि सारी अच्छी कविता विरोधाभास की कविता होती है, किंतु इतना सही अवश्य है कि साहित्यिक कृति को ठीक से समझने के लिए उसे पढ़ना पड़ेगा। नयी समीक्षा ने लोगों को सिखाया कि कविता कैसे पढ़ी जानी चाहिए।

२. इस समीक्षा ने अपनी सारी शक्ति कृति पर केंद्रित कर इस बात पर बल दिया कि कृति के कारण कृतिकार महत्त्वपूर्ण है न कि कृतिकार के कारण कृति। इस प्रकार उसने आलोचकों को उस भटकन से बचाने का प्रयत्न किया जिसमें पड़कर वे रचनाकार की जीवनी के साथ ही उलझे रहते थे। लेखक के कथन का यह अभिप्राय नहीं कि रचना में रचनाकार का व्यक्तित्व झाँकता नहीं है। वह झाँकता तो अवश्य है, किंतु उसके दैनंदिन जीवन की प्रत्येक छोटी-मोटी घटना उसमें प्रतिफलित होती हो, ऐसा नहीं होता। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि नयी समीक्षा ने रोमानी परंपरा के विपरीत एक नयी रुचि को परिभाषित किया है।

३. नये समीक्षक ने अपने सूक्ष्म विश्लेषण के द्वारा यह प्रदर्शित किया है कि भाषा काव्य में अपना कार्य किस प्रकार करती है—भाषिक अभिव्यक्ति पर केंद्रीकरण की इस प्रक्रिया से काव्य के अध्ययन में पर्याप्त सहायता मिली है।

---

१. ऑन नेटिव ग्रॉउंड्स, पृ० ४४०

२. वान वाइक ब्रुक्स-द्वारा लिखित ओपिनियंस ऑफ़ ऑलिवर एल्सटन, पृ० २४१

३. वही, पृ० २४३

४. इसने विज्ञान से अभिभूत विश्व में कविता का महत्त्वपूर्ण पक्ष-समर्थन किया है।

५. इसने काव्य को प्रचार का माध्यम न मानकर उसके स्वतंत्र कलात्मक अस्तित्व की प्रतिष्ठा पर बल दिया। यह बात अलग है कि उसने अपने सिद्धांत की झोंक में आकर काव्य के किसी भी उद्देश्य को, चाहे वह कितना भी कलात्मक क्यों न हो, अस्वीकार कर दिया है। डॉ० नगेंद्र ने नयी समीक्षा के इस प्रदाय का उल्लेख करते हुए लिखा है — "उसने (नयी समीक्षा ने) साहित्येतर मूल्यों के आक्रमण से काव्य की रक्षा कर उसकी स्वायत्त सत्ता की प्रतिष्ठा की है। काव्य का अपना स्वरूप है, अपना प्रयोजन है और अपना माध्यम है। वह विज्ञान अथवा राजनीति का साधन नहीं है: जीवन में उसकी अपनी अलग सार्थकता है। नयी समीक्षा ने इस विस्मृत तथ्य का अत्यंत आग्रह के साथ उद्घाटन किया।"[1]

६. पोप और ड्राइडन को पुनः प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी नये समीक्षकों को ही है। इस दिशा में एफ़ आर० लीविस, क्लिअंथ ब्रुक्स आदि का प्रयास सराहनीय है।

स्टेनले एडगर हाइमन ने बड़े ही उच्छ्वसित शब्दों में बताया है कि एक आदर्श समीक्षक को विभिन्न नये समीक्षकों से क्या-कुछ सीखना होगा। उनके वक्तव्य का सार इस प्रकार है — आदर्श समीक्षक को ईवोर विंटर्स से मूल्यांकन और तुलनात्मक निर्णय की प्रक्रिया लेनी होगी; टी० एस० इलियट से उसे साहित्य में परंपरा के महत्त्व को और साथ ही सर्जन तथा समीक्षण के यौगपद्य को सीखना होगा; आर० पी० ब्लैकमर से उसे कठिन परिश्रम, शोध की तकनीक तथा भाषा-शैली पर केंद्रीकरण की पद्धति मिलेगी; विलियम एंपसन उसे अनेकार्थताएँ तथा सूक्ष्म पाठ की प्रविधि प्रदान करेंगे; आई० ए० रिचर्ड्स से वह संप्रेषण, पुनराख्यान के ढंग तथा प्रयोग की प्रक्रिया लेगा; केनेथ बर्क उसे कविता में प्रतीकात्मक व्यापार के महत्त्व की शिक्षा देंगे; जॉन क्रो रैंसम, एलेन टेट, क्लिअंथ ब्रुक्स तथा रॉबर्ट पेन वारेन उसे काव्य के रचाना-तंत्र पर दृष्टि केंद्रित करने की प्रविधि सिखायेंगे।[2]

सीमाएँ :

१. विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से नयी समीक्षा की परिधि बड़ी संकुचित है—वह समग्र साहित्य को अपने विवेचन-क्षेत्र में समाहित नहीं कर सकी है।

---

१. नयी समीक्षा : नये संदर्भ, पृ० ५७

२. द आर्म्ड विज़न, पृ० ३८६-८७

उसने अपने को मुख्यतः कविता, और वह भी छोटी कविताओं, के विश्लेषण तक सीमित रखा है — महाकाव्यादि को वह अपना विवेच्य बनाने में सर्वथा असमर्थ रही है। वस्तुतः वह ऐसा कर भी नहीं सकती थी। कारण यह कि जिस समीक्षा में कविता के प्रत्येक शब्द, प्रत्येक पंक्ति पर विचार किया जा रहा हो वह समीक्षा महाकाव्यादि को अपने विवेचन का विषय कैसे बना सकती है? साहित्य की अन्य विधाओं — उपन्यास, कहानी, निबंध आदि — तक भी उसकी पहुँच सामान्यतः नहीं है।

२. नयी समीक्षा में जिन यूरोपीय कवियों की कृतियों को विवेचन का विषय बनाया गया है उनका चयन सामान्यतः बड़े ही संकुचित दायरे से हुआ है — ये कवि मुख्य रूप से या तो सत्रहवीं शताब्दी के हैं या फिर बीसवीं शताब्दी के।

३. इस समीक्षा में कवि की किसी विशिष्ट कविता को उसकी अन्य कविताओं से काटकर देखने की प्रक्रिया में कवि-चेतना का वह विकासबोध उपेक्षित हो गया है जो कवि की उत्तरोत्तर रचनाओं में प्रवहमान होकर उस विशिष्ट कविता में संहित हुआ है। कवि-चेतना के विकास को, उसके समग्र परिवेश में देखे बिना, आत्मसात् नहीं किया जा सकता।

४. इस समीक्षा ने विविध ललित कलाओं से शब्दावली — स्ट्रक्चर, जेस्चर आदि — तो ग्रहण की है, किंतु उनके संदर्भ में काव्य पर संगत रूप से विचार नहीं किया है।

५. नयी समीक्षा में यह निरूपित नहीं किया गया है कि साहित्य का अन्य शास्त्रों से क्या संबंध है। यहाँ तक कि इसने अपने समानांतर शैलीशास्त्र के साथ भी साहित्य के संबंध की खोज नहीं की। परिणामतः भाषा, शैली और छंद से संबद्ध इसके अध्ययन में प्रौढ़ता का अभाव है।

६. यह समीक्षा मूल्यांकन को एकदम नकारती है जो किसी भी आलोचना-पद्धति का मूल धर्म है। ओलिवर एल्स्टन ने तो मूल्यांकन से दूर भागने के कारण नयी समीक्षा को समीक्षा मानने से ही इनकार कर दिया है।[1]

७ इस समीक्षा ने कविता के पदान्वय का विरोध करके आधुनिक कवि को ऐसी कविताओं के प्रणयन के लिए प्रोत्साहित किया है जिनमें संवादिता का एकदम अभाव है।

---

१. ओपिनियंस ऑफ़ ओलिवर एल्स्टन, लेखक—वान वाइक ब्रुक्स, पृ० २४३

८. वैदुष्य को आलोचना की अनिवार्य शर्त मान लेने के कारण, नये समीक्षकों का काव्य-विवेचन कहीं-कहीं 'मघवा मूल विडौजा टीका' की उक्ति का अनुसरण करने लगता है।

विलार्ड थॉर्प ने विभिन्न नये समीक्षकों की अतिवादी दृष्टियों की आलोचना करते हुए लिखा है कि वर्क की आलोचना अत्यंत उत्कृष्ट वैशिष्ट्यों में उलझकर रह गयी है; विंटर्स नैतिकता पर हद से अधिक वल देते हैं; टेट का स्वर समय-समय पर अधिकारपूर्ण और कटु हो उठता है; ब्लैकमर भटकने के वहुत अधिक शौकीन हैं; और रैंसम अत्यधिक दार्शनिक तथा योजनावादी हैं।[1]

अपनी इन तमाम त्रुटियों के वावजूद नयी समीक्षा वीसवीं शताब्दी के सर्वाधिक सशक्त समीक्षा-आंदोलन के रूप में उभरी है और उसके कतिपय प्रदाय निश्चय ही ऐसे हैं जिनके कारण उसे आलोचना के इतिहास में गौरव के साथ स्मरण किया जायेगा।

---

१. अमेरिकन राइटिंग इन द ट्वेंटीएथ सेंचुरी, पृ० ३१६

# संदर्भ-ग्रंथ

## अँग्रेज़ी-ग्रंथ

1. American Literary Criticism (1900-1950); Charles I. Glicksberg; Hendricks House, Inc., New York; 1951.

2. American Literature : A Brief History ; Walter Blair, Theodore Hornberger, James E. Miller Jr., Randal Stewart; Scott, Foreman and Company, Glenview, Illinois Brighton, England; 1974.

3. American Writing in the Twentieth Century; Willard Thorp; Harvard University Press, Cambridge, Massachusetts; 1960.

4. Aristotle's Poetics and English Literature; Elder Olson; Chicago; 1965.

5. A Shaping Joy (Studies in the Writer's Craft); Cleanth Brooks; Methuen & Co. Ltd., 11 New Fetter Lane, London E.C. 4; 1971.

6. A Time of Harvest (American Literature 1910-1960); Ed. Robert E. Spiller; American Century Series, Hill and Wang, New York; 1962.

7. Biographia Literaria (Or Biographical Sketches Of My Literary Life And Opinions); Samuel Taylor Coleridg (Ed. George Watson) ; Everyman's Library, Dent : London, Dutton : New York; 1962.

8. Concepts of Criticism; René Wellek; Yale University Press, New Haven and London; 1964.

9. Counter-Statement; Kenneth Burke; Hermes Publications, Los Altos, California; 1953.

10. Criticism in America; John Paul Pritchard; Lyall Book Depot, Ludhiana; 1970.

11. Critics and Criticism; A.G. George; Asia Publishing House, Bombay, Calcutta, New Delhi, Madras, Lucknow, Banglore, London, New York; 1971.

12. Critics and Criticism : Ancient and Modern; Ed. R.S. Crane; The University of Chicago Press, Chicago, 37; 1952.

13. Critics and Criticism : Essays in Method; Ed. R.S. Crane; The University of Chicago Press, Chicago & London; 1966.

14. Critiques and Eassys in Criticism (1920-1948); Selec. Robert Wooster Stallman; The Ronald Press Company, New York; 1949.

15. Essays in Criticism; Dr. Raj Nath; Doaba House, 1688, Nai Sarak, Delhi; 1971.

16. Essays in Modern Literary Criticism; Ed. Ray B. West, Jr.; Holt Rinehart and Winston, New York; 1962.

17. Five Approaches of Literary Criticism; Ed. W.S. Scott; Collier Books, New York; 1967.

18. In Defense of Reason; Yvor Winters; Routledge &. Kegan Paul, London; 1960.

19. Language As Gesture : Essays in Poetry; R. P. Blackmur; George Allen & Union Ltd., Ruskin House, Museum Street, London; 1954.

20. Linguistics and Literature; Raymond Chapman; Edward Arnold (Publishers) Ltd., 25 Hill Street, London WIX 8 LL; 1974.

21. Literary Criticism : A Short History; William K. Wimsatt, Jr. & Cleanth Brooks; Oxford Book Company, Calcutta, Kharagpur, New Delhi; 1964.

22. Literary Opinion in America, Vol. II; Ed. Morton Dauwen Zabel; Harper and Row, Publishers, New York and Evanston; 1962.

23. Literature and Belief; Ed. M. H. Abrams; Columbia University Press, New York; 1958.

24. Modern Poetry and the Tradition; Cleanth Brooks; The University of North Carolina Press, Chapel Hill; 1967.

25. On Native Grounds; Alfred Kazin; Harcourt, Brace and Company, New York; 1942.

26. On Poetry and Poets; T.S. Eliot; Faber and Faber Limited, 24 Russell Square, London; 1961.

27. On the Limits of Poetry : Selected Essays, 1928-1948; Allen Tate; Swallow Press-Morrow, New York; 1948.

28. Opinions of Oliver Allston; Van Wyck Brooks; E.P. Dutton & Co., Inc., New York; 1941.

29. Perspectives in Contemporary Criticism; Ed. Sheldon Norman Grebstein; Harper & Row, New York; 1968.

30. Principles of Literary Criticism; I.A. Richards; Routledge & Kegan Paul Ltd., London; 1963.

31. Reason in Madness : Critical Essays; Allen Tate; New York; 1941.

32. Revaluation (Tradition and Development in English Poetry); F. R. Leavis; Penguin Books in Association with Chatto, & Windus; 1967.

33. Selected Essays; Robert Penn Warren; Random Honse New York; 1958.

34. Selected Essays; T. S. Eliot; Faber and Faber Limited, 24 Russell Square, London; 1966.

35. Seven Types of Ambiguity; William Empson; Chatto and Windus Ltd., London; 1956.

36. Some Versions of Pastoral; William Empson; Chatto and Windus Ltd., London; 1950.

37. Southern Renascence : The Literature of the Modern South; Eds. Louis D. Rubin, Jr. and Robert D. Jacobs; The Johns Hopkins Press, Baltimore; 1954.

38. The Angry Decade; Leo Gurko; Harper Colophon Books, Harper & Row, Publishers, New York, Evanston & London; 1968.

39. The Armed Vision (A Study in the Methods of Modern Literary Criticism); Stanley Edgar Hyman; Vintage Books, A Division of Randam House, New York; 1955.

40. The Burning Fountain; Philip Wheelwright; Bloomington; 1954.

41. The Common Pursuit; F.R. Leavis; Penguin Books Ltd., Harmondsworth, Middlesex; 1963.

42. The Complete Works of William Shakespeare; Intro. B. Hodek; Spring Books, London.
43. The Idea of the Humanities and Other Essays, Critical & Historical; R.S. Crane; Chicago; 1967.
44. The Kenyon Critics (Studies in Modern Literature from the 'Kenyon Review'); Ed. John Crowe Ransom; The World Publishing Company, Cleveland and New York; 1951.
45. The Language of Criticism and the Structure of Poetry;. R.S. Crane; Toronto; 1964.
46. The Lion and the Honeycomb : Essays in Solicitude and Critique; R. P. Blackmur; Methuen And Co. Ltd., 36 Essex Street, Strand, London W C 2; 1956.
47. The Making of Literature; R.A. Scott-James; Secker & Warburg, London; 1958.
48. The Man of Letters in the Modern World (Selected Essays : 1928-1955); Allen Tate; Meridian Books, New York; 1955.
49. The Meaning of Meaning : A Study of the Influence of Language upon Thought and of the Science of Symbolism; C.K. Ogden and I.A. Richards; Routledge & Kegan Paul Ltd., Broadway House, 68-74, Carter Lane, E.C. 4. London; 1956.
50. The New Criticism; John Growe Ransom; New Directions, Norfolk, Connecticut; 1941.
51. The New Romantics : A Reappraisal of the New Criticism; Richard Foster; Indiana University Press, Bloomington; 1962.
52. The Philosophy of Literary Form : Studies in Symbolic Action; Kenneth Burke; University of California Press. Berkeley, Losangles, London; 1973.
53. The Play and Place of Criticism; Murray Krieger; The Johns Hopkins Press, Baltimore; 1967.
54. The Sacred Wood : Essays on Poetry and Criticism; T.S. Eliot; Methuen : London, Barnes and Noble : New York; 1964.
55. The Story of American Letters; Walter Fuller Taylor; Henry Regnery Company, Chicago; 1956.

56. The Structure of Complex Words; William Empson; Chatto & Windus, London; 1964.

57. The Use of Poetry and The Use of Criticism; T. S. Eliot; Faber and Faber Limited, London; 1964.

58. The Well Wrought Urn; Cleanth Brooks; Mathuen & Co. Ltd., 11 New Fetter Lane, London E. C. 4; 1968.

59. The World's Body; John Crowe Ransom; Louisiana University Press, Baton Rouge; 1968.

60. The Writer in America; Van Wyck Brooks; Avon Books, A Division of the Hearst Corporation, 959, Eigth Avenue, New York, N. Y. 10019; 1964.

61. Twentieth Century Criticism : The Major Statements; Eds. William J. Handy and Max Westbrook; The Free Press, A Division of Macmillan Publishing Co., Inc., New York; 1974.

62. Twentieth Century English; Ed. William S. Knickerbocker; The Philosophical Library, New York; 1946.

63. Understanding Poetry; Cleanth Brooks and Robert Penn Warren; Holt, Rinehart and Winston, New York, Chicago, San Francisco, Toronto; 1960.

## हिंदी-ग्रंथ

६४. अरस्तू का काव्यशास्त्र; सं० — डॉ० नगेंद्र; भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद; २०३१ वि० ।

६५. आँसू; जयशंकर 'प्रसाद'; भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद; २०१५ वि० ।

६६. आलोचना के आधुनिक वाद और नयी समीक्षा; डॉ० शिवकरण सिंह; संजय बुक सेंटर, के ३८/६, गोलघर, वाराणसी-२२१००१; २०३५ वि० ।

६७. केशवग्रंथावली, खंड १ (रसिकप्रिया और कविप्रिया); सं०— विश्वनाथप्रसाद मिश्र; हिंदुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद; १९५४ ई० ।

६८. गीतावली; गोस्वामी तुलसीदास; गीताप्रेस, गोरखपुर; २०२३ वि० ।

६९. चिंतामणि (पहला भाग); आचार्य रामचंद्र शुक्ल; इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग; १९६३ ई० ।
७०. ध्वनिसिद्धांत का काव्यशास्त्रीय, सौंदर्यशास्त्रीय और समाजमनोवैज्ञानिक अध्ययन; डॉ० कृष्ण कुमार शर्मा; अभिनवभारती, इलाहाबाद-२११००३; १९७५ ई० ।
७१. नयी समीक्षा के प्रतिमान; सं० — डॉ० निर्मला जैन; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२; १९७७ ई० ।
७२. नयी समीक्षा : नये संदर्भ; डॉ० नगेंद्र; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, दिल्ली-६; १९७० ई० ।
७३. पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धांत और वाद; सं० — डॉ० नगेंद्र; हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।
७४. पाश्चात्य समीक्षा-दर्शन; डॉ० जगदीशचंद्र जैन; हिंदी प्रचारक संस्थान, वाराणसी; १९६९ ई० ।
७५. फिलहाल : आज की कविता का एक लेखा-जोखा; अशोक वाजपेयी; राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, ८, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-११०००६; १९७३ ई० ।
७६. मिथक और स्वप्न : 'कामायनी' की मनस्सौंदर्यसामाजिक भूमिका; डॉ० रमेश कुंतल मेघ; ग्रंथम, रामबाग, कानपुर-१२; १९६७ ई० ।
७७. रस-मीमांसा; आचार्य रामचंद्र शुक्ल (सं० — विश्वनाथप्रसाद मिश्र); नागरीप्रचारिणी सभा, काशी; २०११ वि० ।
७८. रामचरितमानस; गोस्वामी तुलसीदास; गीता प्रेस, गोरखपुर; २०२३ वि० ।
७९. रीतिकाव्य की भूमिका; डॉ० नगेंद्र; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जवाहर नगर, दिल्ली-७; १९६४ ई० ।
८०. रीतिविज्ञान : सर्जनात्मक समीक्षा का नया आयाम; डॉ० विद्यानिवास मिश्र; राधाकृष्ण प्रकाशन, २, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-११०००६; १९७३ ई० ।
८१. लहर; जयशंकर 'प्रसाद'; भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग; २०२८ वि० ।
८२. शुद्ध कविता की खोज; रामधारीसिंह 'दिनकर'; उदयाचल, राजेंद्र नगर, पटना-४; १९६६ ई० ।

८३. शैलीविज्ञान; डॉ० नगेंद्र; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२; १९७६ ई०।

८४. शैलीविज्ञान; डॉ० भोलानाथ तिवारी; शब्दकार, २२०३, गली डकौतान, तुर्कमान गेट, दिल्ली-६; १९७७ ई०।

८५. शैलीविज्ञान और आलोचना की नई भूमिका; डॉ० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव; केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा; १९७२ ई०।

८६. स्वर्णकिरण; सुमित्रानंदन पंत; भारती भंडार, इलाहाबाद; १९३१ ई०।

## संस्कृत-ग्रंथ

८७. अथर्ववेद; सं० — विश्ववंधु; विश्वेश्वरानंद-वैदिक-शोध-संस्थान, होशियारपुर।

८८. ऋग्वेद; सं० — विश्ववंधु; विश्वेश्वरानंद-वैदिक-शोध-संस्थान, होशियारपुर।

८९. एकादशोपनिषद (मुंडकोपनिषत्); सं० — स्वामी अचिंत्यभगवान्; मोतीलाल बनारसीदास, पो०बा० ७५, नैपाली खपरा, वाराणसी-१; १९६६ ई०।

९०. कालिदास-ग्रंथावली; सं० — सीताराम चतुर्वेदी; भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़; २०१९ वि०।

९१. काव्यप्रकाश (बालबोधिनीटीकासहित); मम्मट; भांडारकर इंस्टीट्यूट, पूना; १९५० ई०।

९२. काव्यादर्श; दंडी (व्याख्या० — रणवीरसिंह); ओरिएंटल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली; १९५८ ई०।

९३. काव्यालंकार; भामह (भाष्य० — देवेंद्रनाथ शर्मा); बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, बिहार; १९६२ ई०।

९४. काव्यलंकार; रुद्रट (हिंदीव्याख्या० — डॉ० सत्यदेव चौधरी); वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली; १९६५ ई०।

९५. काव्यालंकारसूत्र; वामन (सं० — डॉ० नगेंद्र); आत्माराम एंड संस; काश्मीरी गेट, दिल्ली-६; १९५४ ई०।

९६. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति; वामन; निर्णयसागर प्रेस, मुंबई-२; १९५३ ई०।

९७. चंद्रालोक; जयदेव (व्याख्या० — नंदकिशोर शर्मा); चौखंबा संस्कृत सीरीज़ आफिस, विद्याविलास प्रेस, बनारस; १९५० ई०।

९८. नाट्यशास्त्र; भरतमुनि (सं० — मनमोहन घोष); मनीषा ग्रंथालय प्राइवेट लिमिटेड, कलकत्ता; १९६७ ई० ।

९९. रसगंगाधर (प्रथम आनन); पंडितराज जगन्नाथ (संस्कृतव्याख्या० — बदरीनाथ झा, हिंदीव्याख्या०—मदन मोहन झा); चौखंबा विद्या-भवन, वाराणसी-१; १९७० ई० ।

१००. वायुपुराण; गीताप्रेस, गोरखपुर; १९९० वि० ।

१०१. श्रीमद्भागवतपुराण; सं० — हनुमानप्रसाद पोद्दार; गीताप्रेस, गोरखपुर; २०३३ वि० ।

१०२. श्वेताश्वतरोपनिषत्; व्याख्या० — डॉ० तुलसीराम शर्मा; ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली; १९७६ ई० ।

१०३. साहित्यदर्पण (प्रथम खंड); आचार्य विश्वनाथ (सं० — देवदत्त कौशिक); भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली; १९७८ ई० ।

१०४. वक्रोक्तिजीवित; कुंतक (सं० — डॉ० नगेंद्र); आत्माराम एंड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६; १९५५ ई० ।

## कोश-ग्रंथ

105. A Dictionary of Literary Terms; J.A. Cuddon; Indian Book Company, Andre Deutsch; 1977.

106. Encyclopaedia of Religion & Ethics; Ed. James Hastings; T. & T. Clark, 38 George Street, Edinburgh, and Charles Scribner's Sons, 597 Fifth Avenue; 1961.

107. Princeton Encyclopedia of Poetry and Poetics; Ed. Alex Preminger; The Macmillan Press Ltd., London and Basingstoke; 1975.

१०८. हिंदी साहित्य कोश (भाग १); सं० — डॉ० धीरेंद्र वर्मा; ज्ञानमंडल लिमिटेड वाराणसी; २०२० वि० ।

## पत्रिकाएँ

109. Kenyon Review, Two.

110. The University Review, VIII (1942).

१११. समन्विति, वर्ष १, अंक १ (अगस्त ७३ — जनवरी ७४); सं० — महेंद्र चतुर्वेदी तथा डॉ० राजकुमार कोहली ।

११२. साप्ताहिक हिंदुस्तान (१७ से २३ जून, १९७९ ई०) ।